THE BOOK WAS DRENCHED

TEXT FLY WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180046

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 83·1 M 34 M Accession No. H 3067

Author मार्कण्डेय

Title महुए का पेड़. 1961.

This book should be returned on or before the date last marked below.

महुए का पेड़

'पान-फूल', 'महुए का पेड़', 'हंसा जाई अकेला' (कहानी-संग्रह), 'पत्थर और परछाइयाँ' (एकांकी-संग्रह) तथा 'सेमल के फूल' (एक लम्बी प्रेम कथा), मार्कण्डेय की प्रकाशित पुस्तकें हैं।

अब शीघ्र ही प्रकाशित होंगे, 'छायानट' उनका एक नाटक और 'लोढ़ाचक्र' एक उपन्यास

महुए का पेड़

मार्कण्डेय की कहानियों का दूसरा संग्रह

नया साहित्य प्रकाशन
२ डी, मिटो रोड, इलाहाबाद

दूसरा संस्करण : अगस्त, १९५७
पुस्तक-संख्या : ६, ग्राम-साहित्य-माला : ४
आवरण : जगदीश मित्तल, मूल्य : तीन रुपये

मुद्रक : हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद
प्रकाशक : नया साहित्य प्रकाशन,
२ डी, मिंटो रोड, इलाहाबाद—२

श्री बद्री विशाल पित्ती को

प्रथम संस्करण की भूमिका

प्रस्तुत संग्रह में 'पान-फूल' के बाद की दस चुनी हुई कहानियाँ संगृहीत हैं।

पाठकों, मित्रों एवं सहृदय आलोचकों ने, बड़ी ही आत्मीयता तथा स्नेह से पहले संग्रह को अपनाया है। मैं उन सबके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

इन कहानियों में जीवन को आलोकित करने वाला कोई भी प्रकाश-कण आप को दीख गया, तो मुझे विश्वास है, इन्हें आपका सानिध्य प्राप्त होगा।

सुप्रसिद्ध कलाकार श्री जगदीश मित्तल ने अपनी सारी व्यस्तताओं के बीच आवरण-पृष्ठ बनाने में जो तत्परता की है, उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

२ डी, मिंटो रोड, इलाहाबाद
५ दिसम्बर' ५५

मार्कण्डेय

अनुक्रम

जूते	:	६
एक दिन की डायरी	:	२१
नौ सौ रुपये और एक ऊँट दाना	:	३७
साबुन	:	५१
मिस शान्ता	:	६३
महुए का पेड़	:	७६
मन के मोड़	:	८८
हरामी के बच्चे	:	१११
मिट्टी का घोड़ा	:	१३७
अगली कहानी	:	१४७

जूते

—यह तो जूते नहीं हो सकते, और चाहे कुछ भी हों !—मनोहर सोचने लगा,—लेकिन बहू जी बार-बार इसी कमरे में ढूँढ़ने को क्यों कहती हैं ?—उसे एक बार फिर अपनी आँखों पर संदेह हुआ और वह कमरे के बीच में खड़ा हो कर चारों ओर घूम गया, कहीं कुछ नहीं, बच्चों के केवल दो लाल खिलौने ! उसने उन्हें हाथ में उठा लिया, यह तो बड़े चिकने हैं, पैर में कैसे पहने जा सकते हैं ? और उसके आगे मालिक का चमरौधा नाच गया,—कैसा मोटा तल्ला है उसका, और नाल भी क्या ठाट के जड़े हैं; ऊपर से रेड़ी का तेल ! कहते हैं, आँख की रोशनी अस्सी बरस तक जैसी-की-तैसी बनी रहती है। मैं बड़ा हो कर जरूर एक जूता बनवाऊँगा। चाहे उसके लिए कितना ही काम क्यों न करना पड़े।

—माँ तो कहती है न कि ठाकुर की घिसौनी जिन्दगी भर थोड़े ही करनी है ! अभी तो तू नादान है; इसलिए लगा दिया है कि थोड़ा काम-धंधे का ढंग सीख ले। नहीं तो क्या रामू ही बड़ा कमाऊ सपूत है ? मेरा मनोहर भी चटकल के साँचे चला लेगा और कलकत्ता से लौट कर आएगा, तो उसके पास बढ़िया कुर्ता, धोती, साफा और जूता होगा।—मनोहर का मन प्रसन्नता से नाच उठा, फिर उसे एका-एक बहू का ध्यान आ गया और उसकी दृष्टि उस हाथ में उठाये खिलौने पर थम गयी,—कितने मुलायम हैं ये, जैसे कोई फूल हो और इन पतली-पतली पट्टियों में यह चाँदी-सा क्या जड़ा है ?—उसने उसे हाथ से सहला दिया,—इस नयी बहू की सब चीज़ें अनोखी हैं—कपड़ा-लत्ता, बोलचाल।—उसके दिमाग़ में जैसे बिजली-सी कौंध गयी।

उनका जूता भी इसी तरह का लाल-लाल है। गाँव की मेहरिया कहती हैं—भाई, उसका क्या पूछना; जितने दाम का उनका जूता है, बड़े-बड़े सरदारों की पगड़ी भी न होगी। शहर के सुख-आराम की बात ही दूसरी है। यहाँ तो बड़ों-बड़ों को मोका-मतलब के लिए लतरी भी नहीं मिलती। वह तो जैसे धरती पर लात ही नहीं धरतीं—और बहू के मासूम, गुलाबी पैरों पर बँधे सैंडिल के फीते उसके दिमाग़ पर छा गये,—उसमें भी इसी तरह की सुनहली पट्टियाँ हैं, ऐसी मुलायम कि हाथ सरक जाए।—उसने उस खिलौने को उलट-पुलट कर देखा, नीचे कुछ गर्द लगी थी; पर मुलायम रबर! न तो नाल, न कीलें। अजब माया है इनकी!—वह परेशान हो गया।

फिर सोचने लगा,—इस पर पैर रख कर क्यों न देखूँ?—और उसे ज़मीन पर रख कर, जैसे ही उसने पैर रखा, बहू कमरे में घुस आयीं। मनोहर डर के मारे काँप उठा। बड़ी मालकिन के तमाचे और ठाकुर की कनेठी उसके दिमाग़ में दौड़ गयी। उसका सारा शरीर पसीने से लथपथ हो गया। "तेरे पैर में नहीं अटेगा, मनोहर! उसे छू नहीं सकता था तो मुझे बुला लिया होता। माँ ने मना किया है, क्या रे?" और बच्ची को गोद से उतारते हुए उन्होंने मनोहर के सुई के-से कड़े-कड़े, उठे हुए बालों को सहला दिया, "बाप रे, कितने कड़े हो गये हैं तेरे बाल! माँ तेल भी नहीं डालती क्या? अच्छा चल, तेरे बालों में तेल डाल दूँ।" और बैठ कर बच्ची के सफ़ेद, धुले-धुले फूलों-जैसे पाँव में जूता पहिनाने लगीं।

मनोहर रुआँसा हो आया; पर एकाएक जूते का खयाल जैसे उसकी आँखों के आँसू पी गया। उसने जल्दी-जल्दी आँखें पोंछ कर पानी की दीवार हटा दी; तब तक बहू बच्ची को जूता पहना चुकी थीं और मनोहर का अचम्भा, जैसे एक प्रश्न-चिह्न-सा उसके आगे खड़ा रह गया था,—यह तो अजीब तरह से पैर में चिपक गया है, लेकिन

यह गिरेगा, अभी-अभी। जैसे ही बच्चे ने पैर हिलाया, यह नीचे आ जाएगा; और जब मालकिन इस बार पहनाएँगी, तो मैं ज़रूर देख लूँगा।—बच्चा हिला, फिर डोलने लगा और फिर दौड़ने पर जूता जहाँ का तहाँ। मनोहर की आँखें लगातार उसमें धँसी रहीं।

जेठ की रुपहली चाँदनी में गाँव का रस्ता एक मोटी धूल के गद्दे में लिपटा पड़ा था और उसकी दिन वाली गहरी जलन हल्की, सुहावनी सीत में बदल गयी थी। बहू जी धीरे-धीरे धूल पर पैर के निशान बनाती जा रही थीं और बच्ची मनोहर की अँगुलियों के सहारे जैसे अनभ्यस्त-सी डगमगाती हुई चल रही थी। मनोहर की निगाह बहू के जूते से बने निशानों पर थी, जो सोल के निशानों के कारण चतुर बच्चों के घर-घरौंदों में बनी नक्काशी-से लग रहे थे। मनोहर सोचने लगा, आज ही दिन को तो वह पलास की पत्तियाँ पैरों मे बाँध कर यहाँ आया था। दिन में यह धूल जैसे कड़ाह के तेल-सी जलने लगती है! उसका ध्यान बच्ची की ओर से हटा ही था कि वह धूल में पैर धँस जाने से लुढ़क गयी और मनोहर जल्दी-जल्दी उसे खड़ा करके गोद में उठाने लगा, पर वह उठती क्यों? मनोहर से थोड़ी ही छोटी तो है वह। फिर मनोहर उसे वहीं खड़ा करके उसके फ्राक की धूल झाड़ने लगा। बच्ची भी जल्दी-जल्दी दोनों हाथों को चलाने लगी, पर उसकी दोनों खुली टाँगों और जूते पर पड़ी गर्द निकल नहीं पा रही थी। मनोहर डर गया, कहीं बहू नाराज न हों और बड़े मालिक की बात, "देख रे, सँभाल कर ले जाना बच्ची को, कहीं गिराना नहीं वर्ना बहुत पीटूँगा।"

वह बहुत डर गया। जल्दी से ज़मीन पर बैठ कर बच्ची को अपनी गोद में उठा लिया और अँगोछे के एक छोर से उसकी गर्दन झाड़ने लगा। धूल में धँस कर जूतों का रंग मद्धिम पड़ गया था। मनोहर ने बार-बार उन पर कपड़े फेरे, हाथ से पोंछा, मुँह से फूँका,

पर उसकी चमक गायब हो गयी थी। मनोहर सोचने लगा,—आखिर गर्द में इन्हें पहनने की क्या जरूरत थी, कोई पैर थोड़े ही जल रहा था या माघ-पूस की ठारी भी तो नहीं थी!—फिर वह हाथ से बार-बार जूते को सहलाता, साफ करता, मुँह से फूँकता। उसे लग रहा था, जैसे जूते को चोट आ गयी है, उसका मन मलीन हो गया है। उसके तल्ले में कंकड़ तो नहीं धँस गये? उसने जैसे ही झुक कर उन्हें देखना शुरू किया था कि बहू की आवाज आयी, "क्या कर रहा है रे, घर चल कर साफ कर लेता। तेरा कपड़ा तो माटी में सना जा रहा है और तू इन जूतों के कारण इसे छाती पर लादे हुए है! कौन बड़ा जवान पाठा हो गया है?"

मनोहर हड़बड़ा गया। उससे कुछ भी कहते न बना और बहू ने बच्ची की उँगली पकड़ कर, धूल में खड़ा कर दिया। फिर कहने लगीं, "अपने कपड़े तो झाड़ ले मनोहर! चल, अब लौट चलें, बहुत टहलना हो गया।" पर मनोहर के हाथ न हिले और वह बच्ची के पीछे-पीछे घर लौट आया।

बच्ची बहुत थक गयी थी। उसकी आँखें रह-रह कर झँप जाती थीं। बहू ने उसे दूध पिला दिया और वह चारपाई पर लेट गयी। उसका एक पाँव चारपाई की पाटी से थोड़ा लटक रहा था, जिसमें धूल से सना जूता चिपका हुआ था। मालकिन ने मनोहर के हाथों में पंखा देते हुए कहा, "थोड़ी हवा कर दे, सो जाएगी, मैं भी जा कर खा लूँ।" और चलते-चलते फिर कहती गयीं, "मैं उधर सोऊँगी, तुम बच्ची के जूते उतार देना और खा-पी कर वहीं नीचे सो जाना!"

मनोहर को प्रसन्नता हुई पर एकाएक जूतों के उतारने की बात से वह घबरा गया। उसकी समझ ही में नहीं आया कि वह कैसे उतारेगा उन्हें। और वह बड़ी देर तक ग्रीष्म की सुहानी चाँदनी में बच्ची को, पलंग की सुफेद, धुली चादर को, फिर उसके जूतों को देखते-देखते वहीं चार-

पाई की पाटी के सहारे बैठ गया। जूतों पर हाथ फेरा। उसके चमकते हुए बक्सुए को इधर-उधर हिलाया, उसके पतले फीतों को सँभाल कर खींचा-ताना; पर कोई उपाय समझ में नहीं आया। रह-रह कर बीच में घर का कोई आदमी जब इधर-उधर आता-जाता, तो वह उन्हें छोड़ कर पंखा झलने लगता। उसने तय किया,—जब सब लोग सो जाएँगे, तब खोलूँगा। तब तक इसकी गर्द को साफ कर दूँ।—और वह अपने कुर्ते से उसे पोंछने लगा। हाथ की अँगुलियों से जहाँ-तहाँ जमी धूल हटायी और कोनों को मुँह से फूँक-फूँक कर साफ किया; पर उसे संतोष नहीं हुआ—मालकिन नाहक ही जूते ले कर गाँव आयीं, क्या जानती नहीं थीं कि यहाँ धूल माटी होती है? कोई पक्का मकान थोड़े ही है! और ले कर आयीं भी, तो इन्हें कपड़ों के बक्सों में ही क्यों नहीं रखा?—वह मालकिन के दिये हुए कुर्ते को देखने लगा, जिसे उसने पहन रखा था,—क्या इससे खराब हैं जूते?—और उसके हाथ, बच्ची के मुलायम पाँवों से सट गये। धीरे-धीरे रात ठंडी होती गयी और चाँदनी खिल कर घर के आँगन में बिछती गयी। मनोहर भी निश्चेष्ट, निष्क्रिय-सा बच्ची के पाँवों के पास जूते और चारपाई की पाटी से सटता गया। फिर पलास के पत्ते...धूल की जलन...माघ की ठारी...रामू का चरमराता हुआ जूता और मालिक का रेंड़ी के तेल में डूबा हुआ चमरौधा...“नहीं-नहीं!” वह बड़-बड़ाने लगा, “मैं ऐसे ही लाल-लाल जूते लूँगा लेकिन धूल में, कंकड़ पर, ओस में, कीचड़ में नहीं पहनूँगा। जब बरात में जाऊँगा, बैठूँगा, तो उतारूँगा...? पर, नहीं, कोई चुरा ले जाएगा...चुरा...” उसका सिर कुछ खिसक कर बच्ची के पाँवों से सट गया और बच्ची के लटकते हुए पैर उसके सीने पर आ गये। उसका दूसरा हाथ भी बच्ची के पैरों में चिपक गया, जैसे कोई प्रणय-विभोर कामिनी मोहाविष्ट-निद्रा में तन्मय हो गयी हो।

बहू जी की आवाज़ पर एकाएक उसकी नींद टूट गयी। वह

भौंचक्का हो गया, यह तो सुबह हो गयी ! उसने हाथ उठाया, तो बच्ची के पाँव उसके सीने से सटे थे और जूता सामने लटक रहा था। क्षण-भर के लिए उसकी दृष्टि रुकी,—बहू जी ने इन्हें उतारने को कहा था न !—उसे याद आ गया और वह डर गया ! फिर देखा, तो वे सामने खड़ी जैसे किसी दूर की बात में खोयी हुई मुसकरा रही थीं।

"कहाँ तो तू जूते छूता नहीं था, कहाँ रात-भर इसे सीने से लगाए पड़ा रहा। तू बड़ा पागल है, मनोहर ! जा कर हाथ-मुँह धो ले ! रात खाना खा लिया था न ?" मनोहर चुप रहा।

"बोलता क्यों नहीं ?"

मनोहर नीचे देखने लगा। वह सोचने लगा, वह सचमुच खाना खाना ही भूल गया। "अच्छा जा कर हाथ-मुँह धो और माता जी से रोटियाँ ले कर खा ले ! मैंने तेरे लिए चौके में चाय रख छोड़ी है।"

मनोहर हाथ-मुँह धोने गया, तो उसे एकाएक जूते उतारने की बात याद आ गयी और जल्दी-जल्दी मुँह पर पानी छिड़क कर भागा आया, पर मालकिन जूते उतार चुकी थीं। उन्होंने इतनी जल्दी उसे लौटते देखा, तो फिर हँसने लगीं, "तू बच्ची से इतना हिल गया है कि हाथ-मुँह भी धोना छोड़ दिया है। कहाँ तक साथ लगा रहेगा, बुद्धू ! कल तो मुझे दिल्ली जाना है। कह, तो तेरे भरोसे इसे छोड़ जाऊं। पाल लेगा इसे ?" वे हँसने लगी थीं, पर मन के भीतर जैसे कोई दुख की परत खुरच रही हों, गहरे, फिर गहरे।

"और हाँ, दाई से कहना, इसे कपड़े बदला दे और तू इसे ले कर मेरे पास आ तो, इसे दूध भी पिला दूँ और तुझे खाना भी दे दूँ।"

मनोहर दाई के पास बच्ची को ले गया, तो उसने जल्दी-जल्दी इधर-उधर करके उसके कपड़े बदल दिये और कहने लगी, "जा कर

जूते पहना लेना, मुझे एक ही काम थोड़े ही है। बड़े लोगो के पचास झंझट होते हैं। मैं क्या-क्या करूँ ? जब से आयी हैं, काम करते-करते छाती फटी जाती है। बच्ची को कपड़े भी नहीं बदला सकतीं ?"

मनोहर चुपचाप बच्ची को ले कर लौटा, तो फिर जूते का खयाल उसके दिमाग़ पर छा गया—लेकिन इस बार तो मैं जरूर जूते पहना लूँगा। उसने अपना कुर्ता निकाल कर ज़मीन पर बिछा दिया और बच्ची के दोनों पाँवों को सामने रख कर, बड़े चतुर व्यक्ति की तरह जूतों को उलटा-पुलटा कर पहनाने लगा। फिर जब-जब वह बच्ची के पाँवों को उठा कर जूते डालने की कोशिश करता, वे कहीं-न-कहीं फीतों में उलझ जाते या बच्ची उसके कंधे पर हाथ रख उठ खड़ी होती और उसके सिर को दबा कर कंधो पर चढ़ने की कोशिश करते हुए कहने लगती, "घोला बन जा, मनोहल ! घोला मनोहल....घोला...."

मनोहर परेशान हो गया। फिर वह ठीक से बैठ कर, उसे गोद में बैठा कर और एक हाथ से उसे दबा कर, दूसरे से जूते पहनाने की कोशिश करने लगा। पर बच्ची पाँवों में किसी भी तरह जूते नहीं जाते थे। उल्टा जब वे हाथ से छूट कर गिर जाते तो मनोहर उन्हें अपनी देह में पोंछने लगता। कभी-कभी बच्ची "घोला....घोला...." कह कर पीछे की ओर उचकती और मनोहर को ले कर ज़मीन पर गिर पड़ती। वह परेशान हो गया था। तभी बहू जी एक हाथ में दूध का गिलास, दूसरे में चाय-रोटी ले कर कमरे में घुसीं।

"जूतों के पीछे खाना-पीना भी नहीं होगा, मनोहर ! दाई ने बताया उसने कभी के कपड़े बदल दिये हैं और तू जूते पहनाने गया है, तो यही जूते पहना रहा है ? और यह कुर्त्ता ?" वे जैसे बिगड़ उठीं, "कल ही तो दिया है न रे, क्या हालत बना दी इसकी ! कहीं ज़मीन पर बिछाने की चीज़ है, यह ?"

मनोहर चुपचाप खड़ा हो गया। उसने ज़मीन पर से कुर्ता उठा लिया और बाहर निकल ही रहा था कि वे कहने लगीं, "तेरा खाना लायी हूँ। ले, बैठ कर खा ले!"

वह संकोच में पड़ गया। घर में बैठ कर खाना! कहीं बड़ी मालकिन ने देख लिया, तो क्या होगा? और वह चुपचाप चाय का गिलास और रोटियाँ ले कर बाहर चला गया।

बहू ने बच्ची को दूध पिला कर जूते पहना दिये और उसकी अँगुली पकड़ कर बाहर निकलीं, तो मनोहर दरवाज़े पर जल्दी-जल्दी रोटियाँ निगल रहा था। उसका मन फिर उदास हो गया और वह बच्ची के नन्हें-नन्हें सुकुमार पाँवों में बँधे जूतों को देखता रहा।

—बहू जी कल सुबह चली जाएँगी, और बच्ची भी और उसका जूता भी।—मनोहर रात सोया, तो उसके मन में यही खयाल था। बगल में बच्ची के जूते पड़े थे और मालकिन सो रही थीं। मनोहर बार-बार जूतों को देखता और उसका मन सोचने लगता,—यदि रात भर में मैं बड़ा हो जाता, तो बहू जी के साथ ही कल दिल्ली चला जाता और पैसे कमा कर अपने लिए लाल-लाल जूते खरीदता।

रात बढ़ती जा रही थी। चारों ओर सुनसान, पर मनोहर को नींद कहाँ? बस, बहू जी के जाने की बात उसके मन में जैसे पैर तोड़ कर बैठ गयी थी और वह बार-बार जूतों को देखता। उसने हाथ बढ़ाया, जूतों को खींचा और पास रख कर देखने लगा,—कितने सुंदर हैं ये! लेकिन कल से ये मुझे सपने हो जाएँगे।—वह उलट कर, उन्हें आगे ज़मीन पर रख कर देखना चाहता था, क्योंकि ऐसे देखने में उसे जूते उठाने पड़ते थे और बहू जी के जगने का डर उसे बराबर बना हुआ था। वह उलट ही रहा था कि पानी भरे लोटे में धक्का लगा और उस पर रखी हुई तश्तरी झनझना कर गिर गयी। उसने जल्दी से

जूता रख दिया पर बहू जग रही थीं। इसलिए कुछ बोलीं नहीं, चुपचाप कभी मनोहर को, कभी बच्ची को, कभी पूरे घर को और कभी चाँद और दिल्ली की सड़कों और इमारतों को देखने लगती थीं। लेकिन मनोहर और उसके हाथ, उसकी बेचैनी और जूते, सब जैसे रात के सफ़ेद रंग में मिल-जुल कर एक में सन जाते थे।

मनोहर सोचते-सोचते सो गया था, पर उसका हाथ जूतों पर टिका हुआ था, जैसे कोई सूम अपने धन को या कोई प्रेमिका अपने प्रेमी को अपनी छाया में बाँध लेना चाहती है।

सुबह जब बहू ने मनोहर को देखा तो उनकी आँखें भर आयीं। मनोहर अब भी जैसे किसी ख़याली दुनिया में खोया-सा सो रहा था और एक अवसाद के कुहासे से उसका सारा शरीर मोहाविष्ट हो गया था। वे कुछ देर तक देखती रहीं, पर गाड़ी के समय का ध्यान आते ही वे उठ खड़ी हुईं और मनोहर को जगा कर कहने लगीं, "देख, जल्दी से तैयार हो जा, तुझे भी स्टेशन तक साथ चलना होगा।"

मनोहर को तैयार क्या होना था, उसने जल्दी से कुर्ता गले में डाल लिया और सोचने लगा,-मैं आज बहू जी का साथ नहीं छोड़ूँगा, देखें कब बच्ची को जूते पहनाती हैं!—फिर उसके जी में आया, कह दे, "बच्ची को तैयार कर दीजिए, जूते पहना दीजिए, मैं ले कर चलूँ!" पर उसका साहस न हुआ,-शायद बहू जी मेरे सिर पर यह काम न मढ़ दें। पर इस बार मैं नहीं हटूँगा! और वह जूते और बच्ची के आस पास चक्कर काटता रहा।

बहू ने जल्दी-जल्दी नहा-धो लिया था और वह बच्ची को कपड़े भी पहना चुकी थीं। अब मनोहर डर ही रहा था कि कुछ करने को कह कर टाल न दें कि बहू जी बोल उठीं, "क्या खड़ा-खड़ा देखता है; मनोहर बेटा! जल्दी से टिफ़िन केरियर ले कर रसोई से पूड़ियाँ

रखा ले, माँ ने बना ली हैं।" और बच्ची की अँगुली पकड़ कर जूते के पास तक चली गयीं। पर मनोहर कैसे रुकता, उसे रसोई घर तक तो जाना ही था। उसका मन कुछ भारी हो गया।

स्टेशन दो मील था, पर जाते समय धूप नहीं थी। फिर भी मनोहर रास्ते के बड़े-बड़े पलास के पत्तों को देखता गया; क्योंकि कड़ाहे के तेल की तरह जलने वाली धूप और भउरे की तरह जलती गर्द होगी लौटते समय, बच्ची के जूते, माघ की ठारी, माधो का चरमराता हुआ जूता और मालिक का चमरौधा: कुछ भी तो उसे याद नहीं आया था। बस, पलास के पत्ते, जो इस तपन में ही सुआपंखी हरियरी से नाच उठते हैं—शायद जानवरों की छाया के लिए, मनोहर के पैरों के जूते के लिए और हाँ, उसने पत्तियों को पैरों तले बाँधने के लिए घर ही से रस्सी के कई टुकड़े भी छिपा कर जेब में रख लिये थे; क्योंकि बड़ी मालकिन के वे शब्द, जो उन्होंने मनोहर को एक दिन पलास की पत्तियों के जूते पहने देख कर कहा था, "शौकीन होता जा रहा है? बाप ने भी कभी जूतों का मुँह देखा था? अभी से तेरा पाँव जलने लगा!" उसके कानों में गूँज उठे थे।

पर लौटते समय यह पलास की पत्तियाँ, आग की तरह जलती धूप और जेठ की दुपहरिया, जैसे कुछ नहीं थी, क्योंकि रास्ते पर धूल थी, कंकड़ थे और मनोहर की बग़ल में एक काग़ज का डिब्बा दबा था, जिसमें उसके लिए लाल-लाल जूते थे।

एक दिन को डायरी

मन भी अजीब है—कभी कभी भागता है, खूब भागता है—भड़के हुए बैल की तरह, मनमाना, स्वच्छन्द और जो उसे पकड़ने की कोशिश करो, बाँधने की सोचो, तो जाने कैसे, कहाँ से निकल कर फिर दूर—बहुत दूर हो रहता है।

और कभी कभी तो जी में आता है, किसी ततैया के छत्ते के टीक नीचे खड़े हो कर उसे छेड़ें और खड़े रहें। लेकिन न जाने क्यों, लगता है कि बींधने से सारा शरीर बेचैन हो उठा है, और बरफ़-सी शीतल और सुकुमार उँगलियाँ धीरे-धीरे रेंग कर उस दर्द को खींच रही हैं। स्नेह के आँसुओं से भींग जाने का जी होता है—खूब उघर कर, नंगा हो कर।

कभी किसी सरोवर के विश्रांत जल में डूबने से उठी लहरों का गोला देखने को मन होता है, और लगता है, जैसे अथाह गहराई में खड़े होने की ताक़त हो आयी हो, तैरना आ गया हो, दूर के चुने हुए कमल तोड़ लाने का पौरुष जाग उठा हो।

ऐसे भी अवसर जीवन में आते हैं, जब भूख लगी हो, और खाना न मिले; नींद लगी हो, पर सो न सकें; हँसना चाहें, बहुत ज़ोर से चीख पड़ना चाहें, मन कहे, पर कर न सकें, और जब स्टोव जला कर चाय बनाने की सोचें, तो उँगलियाँ जल जाएँ, और माँ की याद हो आए।

—मिट्टी के, गोबर से लिपे, घर में मीठे तेल का दीया जल उठे, और बाँस की साफ-सुथरी चारपाई पर बहुत सफ़ेद बिस्तर बिछ जाए, फिर मीठी लोरियों में—माँ की छाती में डूब जाने को, खो जाने को

जी कहे। दूध-भात की कटोरियाँ देख कर घर छोड़ कर भाग जाने को हों, पर दहलीज में बैठे पापा की डाँट से निगलना ही पड़े।

लेकिन इसके बाद भी बिस्तर में काँटे उग आएँ, तकिया जलने लगे, और खटमलों की एक सेना सारी देह पर घेरा डाल दे, तो फिर टहलने को—दूर-दूर तक घूम आने को, पीछे कई वर्ष के कैलेंडर छू आने को तबीयत मचलती है, भूली-बिसरी बातों की दूकान सजा देने को जी होने लगता है, जिसमें मीठी गोझियाँ, मालपुआ से ले कर पूरियों और चटनियों तक का मज़ा लेने को तबीयत आती है। बात ही बात, और कुछ नहीं, क्योंकि बात से पेट भरता नहीं—संतोष हो आता है; लेकिन जो बात करने वाला ही न हो पास, और कोई मिले भी न रात के इतने बीते समय में, तो कभी-कभी डायरी लिखने की इच्छा होती है—उस दिन की डायरी, जब कालेज से लौटते ही माँ ने चूल्हे से चाय का पानी उतारते-उतारते किंचित् मुस्करा कर कहा था, "सुना, तू लेखक हो रहा है आजकल ! राम और कृष्ण ही को सुना था, जिनकी कथाएँ लिखी जाती हैं. और तू लड़कियों पर कहानी लिखता है ?"

काटो तो ख़ून नहीं, "यह क्या कह रही हो, माँ ! किसने बताया तुमसे यह सब ?"

और वह हँस पड़ी थी, "पागल कहीं के ! अभी-अभी राय बाबू की बहू आयी थीं, उनके मकान के आधे हिस्से में जो वकील रहता था न, वह चला गया है, और उसमें सरकारी इंजीनियर आ कर रहने लगे हैं। उनकी कोई लड़की है—शीला, वह तेरे साथ पढ़ती है ?"

"धत् तेरे की माँ, क्या बात कर दी तुमने, आते-आते। अरे वह भी कोई लड़की है, देहाती, भुच्च। अरे, उसे तो ठीक से धोती भी बाँधनी नहीं आती—मैं उस पर कहानी लिखूँगा ?"

—और मन की परतें जैसे सूखे कपास के बीज की तरह उखड़ गयी हों। माँ की बात, हाथ की फाइल, केतली, प्लेट-प्याले, सड़कें, इमारतें—सब पीछे-छे महीने पीछे।

"ज़रा एक बात सुनना भाई! अलग को है।" मेरे एक साथी ने मोर-पंखी की छाया में खींच कर मुझसे कहा था।

मुझे दुख हुआ था, अचम्भा हुआ। आखिर तुमने अपने को पहचान लिया, लेकिन फिर कुछ संतोष भी हुआ था कि मेरी कहानी में तुम्हारी तसवीर पहचानी गयी, और तुम्हारे ही द्वारा। "लेकिन मैं कहानी की पात्र नहीं हूँ।" मित्र ने बताया, तुम दुखी हो कर कह रही थीं। फिर एक अवसाद का कुहासा घिर आया था मन पर, और सावन की हल्की फुही में मेरे मन के रेशे उड़ गये थे।

—मैं उससे बोलूँगा—ज़रूर बोलूँगा। कहूँगा, कि मुझे वह क्षमा कर दे, गलती से यह सब हो गया, और...पर माँ ने चाय देते हुए कहा था, "अच्छी लड़कियाँ ऐसे ही रहती हैं। राय बाबू की स्त्री ने तुम्हें शाम को घर बुलाया है। कुछ खा-पी कर मिल आना।" पर मेरा मन उड़ा जा रहा था।—मैं झूठ बोलूँगा—यह कहूँगा कि ग़लती से उसकी तसवीर उभर आयी है, और यदि किसी के मन में वैसी ही तसवीर बसती हो, वही शोभा हो, वही तसल्ली हो उसके मन की, तो कोई क्या करे? क्या किसी को चाहना, किसी से स्नेह करना दोष है, किसी को मन के पास देखना बुरा है! फिर मेरे मन का वह दबा हुआ तूफ़ान उभर गया था, जब मैंने उससे लिए पत्र लिखे थे—

"तुम्हें इस तरह तकलीफ़ देना मुझे अभीष्ट नहीं था, शील! मैं लज्जित हूँ, तुम मुझे क्षमा कर दोगी। फिर नहीं लिखूँगा। अपनी आत्मा को मार दूँगा, अपनी आवाज़ का गला घोट दूँगा। बस, तुम

बुरा न मानो।" पर वह सब, जैसे बासी गुलाब की पंखुड़ियों-सा किसी अंधड़ में झड़ गया था—वे सारे पत्र आँच में तप कर राख हो गये थे—लिफ़ाफ़ों में कस कर घुट गये थे।

फिर तुम मेरे लिए असंभव-सी हो गयी थी—आवाज़ से बाहर—पहुँच से बाहर; जैसे हवा हो ही न तुम्हारी अलग-बगल।—राय बाबू की स्त्री ने तुम्हें घर पर बुलाया है, कुछ खा-पी कर मिल आना। माँ की बात याद आ गयी थी।

और मैं गया, तो तुम्हीं पहले मिली थी—जैसे अभी-अभी सो कर उठी हो—रूखे-रूखे-से बिखरे बाल और बहुत सोच-हीन आँखें, जैसे किसी भयानक तूफान को आते देख कर भी कोई साहसी मल्लाह अपनी किश्ती का पतवार ढीला किये बैठा हो—डूबना जो नहीं है उसे, और उसी तरह तुमने कहा था—

राय बाबू के यहाँ जा रहे थे, चलो अच्छा हुआ जो मैं मिल गयी। मैंने ही बुलवाया था, तुम्हें। पर मैं बोल नहीं सका था। क्योंकि जिसे पहाड़ मान कर चढ़ाई की इच्छा ही मर गयी थी, वह मैदान से भी ज्यादा समतल थी, और उसने अपने ड्राइंग रूम का दरवाज़ा खोल दिया था। उसी के भीतर बायीं ओर एक छोटे-से कमरे म बैठे थे, हम। उसके पढ़ने का कमरा यह था, पर बहुत सपाट—एक रैक में थोड़ी-सी किताबें, एक तखत और एक तिपाई—सब पर सफेद कपड़ा, कहीं कोई सजावट नहीं—कोई बनाव नहीं।

"लड़कियों से डरते हो!" उसने मुझे तख्त पर बैठा कर कहा था।

"नहीं तो!" मुझे ज़रा सहारा मिला।

वह ज़रा हँसी भी तो नहीं। अपने को बनाया-सँवारा भी नहीं, वैसे ही, जैसे कोई विचारक लंबे चिंतन के बाद अपने किसी घर वाले से--

किसी आत्मीय से—बड़े गंभीर रूप में, काम की बातें करता जा रहा हो।

जी में आया, कहूँ, रात दो बिल्लियाँ लड़ते-लड़ते माँ के बिस्तर पर कूद पड़ीं, कौए ने मुन्ना के दूध-भात की कटोरी उठायी, तो छत पर डाल दिया। ग़नीमत समझो, कि मिल गयी, वर्ना माँ अमरीका से सैनिक सहायता लेने जा रही थीं—क्या होता फिर तुम्हारे घर का, पर मेरे घर में चूहों से बुराहाल है। दिखाई पड़ा नहीं की पिता जी को सदमा हुआ राशन की कमी का—तुम्हारे पास मूसदानी होगी ?

पर बात के सिलसिले का ध्यान कर, चुप रह गया। क्या कहता, जो था, लगा, वह सब प्रेत का स्वप्न था। सत्य तो और ही कुछ है।

"तो बोलो कुछ। या लिख कर ही व्यक्त करते हो, अपने को !"

"नहीं तो ! पर क्या कहूँ, कुछ समझ में नहीं आता।"

"कोई नयी कहानी लिखी इधर ?"

"लिख नहीं पाया।"

"क्यों ?"

मैं बोल नहीं सका।

"इसलिए कि कोई मन की लड़की नहीं मिलती।"

"हाँ ऐसा ही मानो !" मैंने बहुत साहस करके उदास मन से कहा।

"तो लड़कियो के लिए लिखते हो ?"

"नही तो।"

"अपने लिए ?"

"नहीं।"

"पढ़ने वालों के लिए ?"

"कह नहीं सकता।" मुझे जैसे कोई छेड़ रहा हो, इच्छा हुई, कहूँ, बहुत हो गया। अब चलूँ, पर उसने बात बदल दी।

"बहुत अच्छा लिखते हो, मेरी माँ को तुम्हारी कहानियाँ बहुत पसंद हैं। तुम जानते हो न, कि वे हिंदी कम समझती हैं। मैं ही प्रायः पढ़ कर समझाती हूँ, उन्हें।" और उसने मेरी कई प्रकाशित कहानियों की बात कर डाली। बड़े ही प्यारे सुहृद की तरह बोलती थी, जैसे उसे बड़ी आशा हो मुझसे, और सफलता के लिए आश्वासन भी हो मन को।

फिर जैसे कुछ अटकते हुए उसने कहा, "जाने क्या-क्या पूछने वाली थी, तुमसे। सोचा था, एक लिस्ट बना कर बुलाऊँ; पर सब जैसे भूल रही हूँ। एक दिन 'राम-भण्डार' गयी माँ के साथ, तो सोचा तुम्हारे लिए रसगुल्ले खरीदूँ, और एक दिन...हाँ....याद नहीं पड़ता, ठीक....हाँ....हाँ, पिछली शरद् पूनों ही को तो—जब माँ, पापा के साथ मिर्जापुर में थीं—तुम जानते हो न, वे सरकारी इंजीनियर हैं। आजकल वहीं हैं; तो सोचा, बहुत दूर तक घूम आऊँ, तुम्हें भी बुला लूँ। साथ रहेंगे, तो बातें होती रहेंगी—उन्हीं दिनों तुम्हारी कई कहानियाँ पढ़ी थीं। अच्छा, तो जाने भी दो इन सब को। आज तो देर हो गयी है—माँ से कहा भी न होगा तुमने, वर्ना तुम्हें खाना बना कर खिलाती। मुझे बड़ा अच्छा लगता है खाना बनाना।" इस तरह बहुत देर तक वह बोलती रही थी, फिर मैं चला, तो कहने लगी, "अब मिलना तो बोलना, कोई कहानी लिखना तो बताना, मैं सुनूँगी।"

मैं सम्पूर्ण बिखर गया था, उस दिन। समझ ही न सका कि कहाँ गया था। लौटा, तो कोई लालसा नज़दीक न थी। वेग मन में नहीं था, रात को दिन, और दिन को रात समझने की बात न थी—यहाँ तक की साँस का अन्दाज़ लेने के लिए कई बार सीने की धड़कन का

सहारा लेना पड़ा। सोचा, जी रहा हूँ तो कुछ सोचता क्यों नहीं—कुछ हवाई क़िले क्यों नहीं बना डालता—कुछ रंगीन आसमान क्यों नहीं रचता, पर कुछ भी वैसा न हुआ। रात में नींद भी ख़ूब आयी। सुबह उठा, तो पिछला सब भूल गया था।

धीरे-धीरे मन वैसा हो गया, जैसे किसी मनोरम जंगल के झरने के पास बसने वाले बूढ़े का हो जाता है। कौन-सा ऐसा संगीत है इसमें; जो शहर के बाबू कान लगा कर सुनते हैं, समय बर्बाद करते हैं और कड़ी धूप में घर-द्वारा छोड़ कर यहाँ आते हैं।

कभी-कभी किताब तक लाद देता उसके रिक्शे पर, "इसे लेती जाओ! मैं गोष्ठी जाऊँगा, तो लौटने में देर होगी। शाम को आऊँगा, तो ले लूँगा।" कभी कक्षा से निवृत्त हो कर वह मेरे क्लास में आ जाती, तो खड़ी रहती। फिर जब सब निकलने लगते, तो कहती, "मैं घर जाऊँगी, कोई काम हो, तो दे दो।"

मैं कहता, "जाओ!" तो वह चली जाती, न चाहती, न कहती कुछ। कभी कुछ पैसे देती और कहती "शाम को आना, तो कोई चीज़ लेते आना—तरकारी, टोस्ट, बटर आदि...।" और भी मैं कटता गया था—ऐसा नहीं कि उसका काम बुरा लगता था, यह तो मन की ही बात थी, पर वह गतिहीन हो गयी थी, मूर्ति की तरह निर्जीव—निर्विकार, इसलिए मैं राह बचा जाता था, कम मिलना चाहता था।

धीरे-धीरे समय निकल गया पीछे, और हमने उसकी दौड़ पर मन नहीं दिया, जैसे इसे तो जाना ही था। मौसम भी अच्छे-बुरे आये, पर हमें वैसा ही छोड़ गये। मुझे किसी चीज़ में ख़ास रुचि नहीं रही। बहुत सोचा, तो एक कहानी बनी। एक साथी संपादक थे, माँगते थे, तो उनकी पत्रिका का पेट तो भरना ही था इसलिए लिखा; पर लगा, जैसे यह काम मैंने पहले कभी नहीं किया है।

किताबें भी फीकी-सी लगती थीं—यह सारा कितना नया इकट्ठा हो गया है पढ़ने को, और बुकस्टाल पर भी बहुत सारा खरीदना बच रहा है, पर क्या ऐसा होता है इन किताबों में—कथाओं में ? स्त्री का ग़लत चरित्र है सर्वत्र, मन का छीला हुआ। इम्तहान भी क्या है ? और यह कोर्स की किताबें ! प्रकाशकों और लेखकों की भरती की सामग्री ! कुछ नहीं है खास इनमें—समय में, गति में, जीवन में कोई भी एक बिन्दु ऐसा नहीं है, जो भ्रम न हो, खिलवाड़ न हो।

उन्हीं दिनों वह पत्रिका निकली थी। मैंने कहानी देखी भी नहीं छपी। भूल भी चला था, पर वह मिल गयी। रिक्शा रुकवा कर अपने साथ बिठा लिया।

"मिले क्यों नहीं ? बुरा मान गये, ऊब गये मेरे कामों से।" उसके तन में पहली बार गर्मी देखी मैंने—आँखों में हल्की-सी सिहरन, और जी में आया, उसकी गोद में सिर डाल दूँ और कहूँ, "कुछ समझ मे नहीं आता, क्या करूँ, कैसे रहूँ, क्या मतलब है आदमी का, उसके जीने का, रहने का, साँस लेने का ?" पर वह बोलने लगी थी, "क्यों लिखी ऐसी कहानी तुमने, यह ठीक है कि कादम्बरी की महाश्वेता का आदर्श है तुम्हारी रुचि में, पर तुम नल के समान निर्मोही हो ? सिद्धार्थ के समान त्यागी हो ? मैं फिर पहचानती हूँ, अपने को वहाँ। मैं उदासी हूँ—यही न मतलब है तुम्हारा ?"

जी में आया, चिल्ला पड़ूँ। कहूँ, "छोड़ दो मुझे, क्यों बाँध रही हो इतनी बेरहमी से ? मेरा मन टूटने के करीब है, बिखरने के पास है। बेड़ियाँ न डालो इसमें।" पर मैं दबा बैठा रहा, कुछ भी न कह सका।

फिर कहने लगी, "देख कर रास्ता बचाते हो, और बन रहे हो गौतम !" जैसे वह झिड़क-सी रही हो। "शाम को आओगे घर ?"

"नहीं।"

"क्यों, अब तो गोष्ठियाँ भी छोड़ दी है, इधर!"

"तुम्हे यह सब कैसे मालूम?"

"जैसे भी हो, पर काम क्या है, जो नहीं आ सकोगे?" और फिर चलते-चलते उसने कहा, "तो आना, माँ ने कई बार पूछा है, और घूमने भी चलेंगे, आज बड़ा मन है।"

उस दिन मैं नहीं गया, तो फिर जाना न हुआ। गर्मी आ गयी था। हवा से वैसे ही देह जलने लगी थी, उसी में परीक्षाएँ हुईं, और हम कहाँ से कहाँ हो रहे। बहुत लू आयी उस साल। आदमी भुन के रह गया, खड़े-खड़े पेड़ सूख गये, और कुओं में पानी न रहा। जानवर भूखो मरने लगे। इसी बीच पचास वर्ष के रामू दादा, पाँच-सौ रुपये में एक बहू ब्याह लाये। गाँव में बड़ी बात रही कि लड़की का बाप खाए बिना मर रहा था। पेट कहीं धरम बचने देता है? बेचारे ने जान-बूझ कर थोड़े ही लड़की बेची। दुलारी के बाप के ऊपर तो आसमान ही फट पड़ा—रोता-चीखता फिरा, पर बिरादरी में सुनवाई न हुई। क्यों उसने उस लफंगे रिश्तेदार को घर में टिकाया। आज की बात थोड़े ही थी। वर्षों से वह शहर से आता, तो महीनों रह जाता। कहते हैं, रिक्शा चलाता है और इधर तो हारे-गाढ़े मदद भी कर देता था, पैसे भी दे जाता था, पर दुलारी को इस तरह उड़ा ले जाने पर बिरादरी भला कैसे मानती। भोज-भात, डाँड़-बाँध कुछ तो होगा ही उस पर। उस समय मैं गाँव में था। सोचता, यह सब क्या हो रहा है। बहुत जो अकुलाया, बहुत ऊबा, पर मैं शहर न आया।

माँ ने बुलाया, पत्र डाला, अंत में तार दिया पर मैं न गया—शीला की शादी हो गयी, वह चली गयी, तुम्हें पूछती थी।—यह सब भी लिखा, पर मैं न जा सका। जी ऊबता, तो मुन्नी के लिए बाजरे के डंठल से बंदूक बना देता, घोड़ा बना देता, पर किताबें

देख कर बुखार-सा लगता। बहुत ज़ोर मारता, तो किसी उपन्यास का एकाध हिस्सा पढ़ कर मन खट्टा हो जाता, और लिखना तो छूट ही गया हमेशा के लिए।

धीरे-धीरे बरसात के कई बादल उमड़-घुमड़ कर बरसे, पर धरती प्यासी ही रही, और पानी चाहिए था उसे। और मैं गाँव से शहर जाने को हुआ। मुन्नी बहुत रोयी, भाभी ने दही-गुड़ मुँह में लगाया, और लढ़िया पर बैठा दिया। स्टेशन पहुँचा, तो गाड़ी में बहुत भीड़ थी। इधर-उधर भटका, सहसा पद्मा दीख गयी—मामू की लड़की होती थी मेरे। बचपन में साथ खेले थे। लड़ती थी, बाल नोच लेती थी, परेशान करती थी। पर वह क्या हो चली है, जैसे किसी अहेरी मल्लाह की फटी बाँसुरी-सी। बहुत दब कर किसी तरह नमस्कार किया, तो बगल देख कर उसने सिर का कपड़ा और खींच लिया। जाना, कि उसके पति देवता थे साथ, भेंट हुई, तो अनमने से मिले, फिर बताया, तो कुछ तसल्ली हुई। ब्याह हो गया था पद्मा का, पहले भी सुना था, पर देखा, तो फिर सोचने लगा—ब्याही पद्मा और ब्याही सुशीला; फिर सारी ब्याही लड़कियाँ, फिर भाभी की स्नेहार्द्र आँखें, तेज़ी से पीछे छूटने वाले गाँव के ऊपर उभर आयी थीं। भाभी भी तो एक ब्याही लड़की चाहती है। नन्हे-नन्हे-से हाथ हों जिसके—कमल की पंखुरियों की तरह। सुबह के डूबते हुए तारों-जैसी आँखें और आकाश-गंगा जैसा घूँघट। बेतहाशा हँसी आयी थी, यह सब सोच कर। पर शहर आ गया और मैं गाड़ी से उतर गया था।

कुछ भी मन का नहीं दीखा। पढ़ाई में रस नहीं, माँ रिसर्च के लिए बिगड़ीं, पिता ने मुँह फुलाया, पर मुझसे हुआ नहीं। अंत में मास्टरी ले ली एक स्कूल में। छोटे बच्चों को पढ़ाता, तो मन कुछ बहल-सा जाता। इसी बीच शरद् आया और बीत गया। नीम की

टहनियों पर चाँद को कितनी बार बैठे देखा, पर मन अटका नहीं उस ओर। पद्मा का पीला चेहरा प्रतीक हो उठा ब्याह का—एक तबदीली की बात • सोचता रहा, किसी बड़े पैमाने पर—ब्याह पर। मशीन की तरह चलने लगा था कि एक दिन स्कूल के बाद भारी तूफ़ान आया—पेड़ उखड़ गये, बिजली के खंभे गिर पड़े और पुराने मकान ढह गये, कितने। स्कूल के बरामदे में देखता कि कैसे चलूँ घर। बच्चों की बस गयी, तो फिर लौटी ही नहीं। क्या करूँ, कैसे पहुँचूं। पर रात तक तूफ़ान नहीं गया। दस बजे के क़रीब भींगता-भागता चल पड़ा। अँधेरा घना था, पर पानी थमा था—एकाएक बिजली चमकी और ज़ोरों की गड़गड़ाहट हुई। फिर बड़ी-बड़ी बूँदें पड़ने लगीं। भाग कर बगल वाले मकान में घुस गया, पहचाना तो सदमा हुआ—शील का मकान। तब तक खिड़की से कोई चेहरा, मोमबत्ती की रोशनी में झाँका और दरवाज़ा खुला।

"कौन ?"

जी में आया, अभी खैरियत है, फिर जैसे सैकड़ों मन ओले गिर पड़े हों एक साथ। और पीछे से मोमबत्तियों की रोशनी में दो परछाइयाँ हिलीं।

"यह तो मैं हूँ ?"

"तुम ! इतनी रात गये !" सुशील डरी नहीं थी, पर घबराहट थी आवाज़ में। बताया सब, तो अंदर जाना हुआ, कपड़े बदलने हुए, और उसी ड्राइंग-रूम में बैठना हुआ। एक बार पद्मा का चेहरा आँखों में नाचा, पर सुशील तो वैसी ही है। निश्छल अहेरी-सी पुतलियाँ, जैसे किसी काजल की कोठरी से लौटा हुआ कोई बेदाग़ योद्धा। मन के किसी कोने पर किवाड़ नहीं।

"अच्छा हुआ, जो भेंट हो गयी, वर्ना बुलाने वाली थी, खाना लाती हूँ।"

मेरे खाते समय वह बैठी, आँचल से मोमबत्ती को हवा से बचाती रही।

"बहुत मन करता था, तुमसे बात करने को।"

"कैसी हो? दुबली लगती हो पहले से।"

"हाँ शादी हुई न मेरी, ससुराल से आयी हूँ, पर तुम्हें क्या पता होगा?"

"माँ ने बताया था।"

"कब?"

"उसी समय।"

"तो तुम आये क्यों नहीं?"

"मन नहीं हुआ।"

"अच्छा ही किया। क्या करने आते, बड़ी गर्मी थी।"

"मन कैसा है?"

"बड़ा प्रसन्न, मैं दुखी ही कब थी? अच्छी शादी है—भले हैं लोग।"

"पर शादी के बाद............"

"रहे जैसे के तैसे—अपने ही जैसा देखा दुनियाँ को, और तुम्हारे पढ़ने-लिखने का?" उसकी आवाज़ थम गयी थी।

"नहीं लिख पाया तब से, अब तो भूल भी रहा हूँ।"

"हाँ, उस दिन तुम नहीं लौटे......" वह कह ही रही थी, कि ज़ोर का झोंका आया और मोमबत्ती बुझ गयी।" मैंने समझ लिया था कि..." उसका गला भर आया था। जैसे वह बोल न पाती हो, और मेरे हाथ उसके हाथों में आ गये थे। फिर सहसा बिजली कड़की, मकान के दरवाज़े खड़खड़ा उठे—और मेरे हाथों पर दो गरम बूँदें, जैसे आकाश से चू पड़ी हों, मैं चौंक गया।

"सुशील !"

"हाँ, तुम डर रहे हो, बत्ती जला दूँ ? और किसी तरह उसने रोशनी कर दी।

"तुम लिखा करो, वर्ना मुझे पाप का बोध होता है। क्यों अपने को मारते हो, मैं उदासी हूँ, इसीलिए न। पहले तो ऐसे नहीं रहते थे।" और उसका गला फिर भर आया। "पर तुम तो आये ही नहीं उस दिन...वर्ना..." वह रुक गयी, जैसे दबा गयी हो अपने को। फिर चलने लगा, तो कहने लगी—

"तुम शादी कर लो तो अच्छा रहे, देखी नहीं कोई लड़की इधर..."

"नहीं देख पाया !"

"अच्छा देखो, मैं किसी दिन घर पर आऊँगी, तो माँ से कहूँगी। लेकिन तुम आना, कुछ लिखना, तो सुनाना।"

मील भर का रास्ता, जैसे कुछ क़दमों में बँध गया। बहुत सारा पास होने पर भी मन बँधा ही रहा। केवल यह संयोग ही प्रधान हो गया उस समय। पद्मा याद आयी, पर सुशीला ने उसे सीमित कर दिया। वह तो कुछ खुली ही थी—सुबह के कमल के समान। कितनी खुश थी, कुछ बोलने के रुख पर थी,...तू शादी कर ले...देखी कोई लड़की...मैं सोचता रहा।

रात, ग्यारह बजे घर पहुँचा, तो माँ ने बेचैनी के साथ दरवाज़ा खोल कर डाँट बतायी। खाने के पहले ही जैसे किसी बोझ को उतारने के लिए कहने लगीं—

"सुना तुमने ?"

"कोई घर गिर गया क्या ?"

"हाँ, वही समझो।" आवाज़ में दुख था, उनकी।

"वह जो लड़की सुशील थी न, राय बाबू के पड़ोस वाली—

तुम्हारी साथी। इसी साल शादी हुई थी—जो मैंने लिखा था कि तुम्हें पूछती है। पर भगवान् ही बिगड़ गया बेचारी पर। उसका आदमी तीन-चार दिन हुए, उसे यहाँ छोड़ गया। कहता था, कि वह ऐसी लड़की घर में नहीं रखता। जब से गयी, उससे बोलती तक नहीं थी। परायी-सी बनी रही। पहले तो लोग न बोले, पर बाद में उसके पति ने छिप कर उसकी डायरी देखी, तो उसमें एक ही दिन की डायरी लिखी थी—सारा राज़ उसी से खुला बेचारी का। शायद किसी लड़के से वह प्रेम करती थी। राय बाबू की बहू कहती थीं कि उन्होंने उसे पढ़ा तो आँसू आ गये उनके। शायद किसी दिन उस लड़के को बुलवाया था, बाज़ार से सुहाग की साड़ी मँगा कर पहनी थी, शृंगार किया था, उस दिन पहली बार। यह सब लिखा था। वे बता रही थीं, कि उस दिन वह साथी नहीं आया। किसी बात से उदास रहता था, यही सब जाने क्या-क्या, लिखा था।"

मैं अवाक् था—जैसे यहाँ न रहा होऊँ और माँ हवा से बोल रही हों।

पर एकाएक बात का सिलसिला टूटते ही शील के घर, मेरे हाथों पर टपकी दो गरम पानी की बूँदें जल उठीं, जैसे किसी ने लोहे की गर्म सलाख रख दी हो। मैंने उस हाथ को दूसरे से दबा लिया, पर मेरी नींद उड़ गयी थी। बाहर ओले गिरे थे, पर हवा जल रही थी। पद्मा का चेहरा बेबसी के आँसुओं से धुल गया था पर मुन्ना नहीं था, वर्ना बाजरे से पालकी बना देता उसे इस रात...।

नौ सौ रुपये और एक ऊँट दाना

चढ़े ज़ोर की तपन है, हरियरी का कहीं नाम न जस। बस आम-महुओं के सिर पर, टोपी नुमा, थोड़े हरे पत्ते बच रहे हैं। रास्ते पर जैसे किसी ने भाड़ का बालू बिछा दिया हो। तीन मील की इस खेतार में एक भी बाग़ नहीं—एक भी छायादार पेड़ नहीं। प्यास लगे तो आदमी तड़प कर मर जाए।

"पानी पी लो भइया, खूब मुचेमुच्च पेट भर के, नहीं तो पियास लग जाएगी तो परानै गवा समझो।"

लोकई ने, जिसे इस स्टेशन पर ढूँढ़ने के लिए, मुझे घंटे भर रुकना पड़ा था, और इसी कारण साढ़े ग्यारह के, साढ़े बारह बज गये थे; बिस्तर सड़क पर रख कर, दूकान के सामने खड़े होते हुए कहा। मेरे बिना कहे साव से मिठाइयों की फरमाइश करने के बाद, वह मेरी ओर देख कर एक तेल से डूबे स्टूल पर से, मक्खियाँ उड़ाते हुए बोला, "बइठि जाओ, छहाय लो! बड़ा मरन है इस रस्ता में।"

उसने मिठाई का दोना मेरे हाथों में रख कर, भट्ठी से राख लिया। पीतल की नन्हीं लोटिया को माँज कर मुझे पानी पिलाया और दो मिठाइयों के साथ, चार लोटिया पानी खुद चढ़ा कर, मेरे साथ चल पड़ा। पर एक टप्पे को पार करते-करते मेरा हलक़ सूखने लगा। लेकिन किसी-किसी तरह, एक-एक हरी अड़ूस की झाड़ियों और ठिगने-बौने पेड़ों को गिनते, छाया की सभी आशाओं के स्थान पर, लू के थपेड़े सहते हुए हम घर की छत के नीचे पहुँच गये थे।

काकी हहा के दौड़ीं। खटोलिया बिछाते हुए, हाथ-गोड़ धोने

का पानी लाने को कहा, फिर टूटे बेने पर पानी का छिड़काव कर, चुर-मुर चुर-मुर डुलाने लगीं।

लोकई को बारह आने देने थे, पर मेरे पास, दस रुपये के नोट। क्या जाना था कि गाँव में पैसा गधे की सींग हो जाएगा। छब्बू बरई और मोहन साव के यहाँ से बचनुवाँ लौट आया, पर नोट नहीं टूटा।

"लगन के दिन हैं न, बचवा! बड़ा कमात हैं सब। कहने को बड़े मनई हैं, खोज आओ तो एक फुटहा पइसा भी न निकलेगा ठकुराने में।" फिर कुछ रुक कर, उन्होंने पनारु पंडित के यहाँ आदमी भेजा, पर वहाँ भी नोट न टूटा। बुचऊ सिंह का नाम लेते हुए वे हँसने लगीं, "बड़ा चानस है, तुम्हारे बुचऊ का। तुम्हार नाँम सुनते ही दौड़ा आएगा, लेकिन बहुत बोलना-डोलना नहीं उसके साथ, आज-कल हुक्का-पानी बंद है।"

—बुचऊ का हुक्का-पानी?—मैं अचम्भे में पड़ गया था। पाँच-छे बरस पहले का वह ज़माना मेरे आगे नाचने लगा, जब बुचऊ भींटे से कंकड़ियाँ बटोर कर लाता और डंड-बैठक करते समय, उन्हीं से गिनती करता। नन्हा, ठिगना, लकड़ी की गाँठ-सा आदमी—आगे के दो काले दाँतों में से, एक का आधा हिस्सा टूटा हुआ और मिट्टी के लोंदे-से चेहरे में, घुमची की तरह, जड़ी हुई, दो नन्हीं-नन्हीं आखें। मुझे देखते ही उसके होठ दाँतों पर चढ़ जाते थे और वह हाँफ-हाँफ कर होंठों के किनारे आये हुए, थूक के गाज को पोछता हुआ, घंटों बात करता रहता था।

"बालगंगाधर तिलिक, गोखली, मदनमोहन मौलवी, सियारदास और जाने कितने कँगरेसी नेता,...गजब-गजब आदमी हैं भइया! उज्जर, बकुला के पंख जैसा कपड़ा पहिनते हैं। पसेरी-पसेरी भर का खोपड़ा है। बड़े-बड़े पुलुस-दरोगा कुचुर-कुचुर मुँह ताकते रह जाते हैं! मुन्सीपाल्टी वाले हाथ जोड़े खड़े रहते हैं। महत्मा गन्ही के मोटर

में बड़े-बड़े धनी बोझ बोझ भर नोट का पुलुन्दा झोंक देते हैं। औरत मरद अपना गहना-गोठा दे देती हैं। बस एक ही बात—अन्डोलन करो ! सत्त पर चलो ! खद्दड़ पहिनो !" और वह रुक-रुक कर बाबा की मोटी जाँघ को अँकवार में लपेट-लपेट कर तेल लगाते-लगाते, हलाकान हो जाता।

"हमा-सुमा को कौन पूछता है वहाँ। बड़े-बड़े सेठ साहूकार की गुलाब के फूल जैसी तिरियन को किसी तरह दरशन मिल जाता है, लेड़ी-बूची की कौन बात है ?" वह चिढ़ कर उस समय कहता, जब कोई गाँव का मस्खरा बीच में उसे टोक कर कहता, "तुमको भी मिली थी एकाध माला क्या ?"

"ले आये हैं सुबास बाबू की तसवीर—जैहिन्न ऊपर लिखा है, नीचे तिरंगा लिए, कपटन बने खड़े हैं। थोड़ा फूल है उनके ऊपर का गिरा हुआ, न बिस्सास हो तो, चल के देख लो !"

"रक्कत हो गया है सारा मुँह।" काकी ने खयाल तोड़ दिया और पंखी रोक कर, वे मेरे बालों पर हाथ फेरने लगीं। "पक्का में, पंखा के नीचे रहते-रहते, कितना सुकुआर हो गये हो। थोड़ा लेट जाओ।" और उन्होंने एक लगदी लपेट कर, तकिया बनाते हुए मेरे सिरहाने रख दिया। फिर गगरे से ताज़ा पानी ले कर पाँव धोते हुए, वे बहू की पुरानी खाँड़ का ठिल्ला बता कर, कहने लगीं, "रानी के वियाह की खाँड़ है। बड़े जतन से जोगवत-जोगवत बची है, पर तुम्हारे कक्का के मारे रहाइस नहीं है। कभी इमले, कभी सिकेटरी; जब से पंचाइत बनी दुवार, खनाय गया। बचनुआ एक दिन, स्कूल से लौटा था। गाँव के सब लड़के संग-संग थे। इमले महराज कहीं जा रहे थे। बचा तो बच्चा, उसने जाने कैसे कह दिया, 'रोटी, कपड़ा, तेल दो !' अब लड़कों ने चिल्ला कर जवाब दिया, '...कुरसी छोड़ दो...वरना...', ऐसे ही कुछ" वे शरमा कर हँसने लगीं।

मैंने उठ कर बैठते हुए कहा, "तो क्या हुआ ?"

"अरे भइया इमले तो नाराज न हो गये। तुम्हारे काका से लकठा लगा दिया, औ बचनुआ पर ऊ-ऊ मार पड़ी, ऊ-ऊ मार पड़ी; वह तो संजोग कहो बुचऊ बैठे रहे दुवारे, सड़ासड़ बहस करने लगे और लोग बताते हैं, गलदोद न दिया इमले को; पर इनको क्या कहें, उनको दुवारे से उठा दिया, सुना बेचारू रो के चले गये।"

उसी समय बचनुआ अजुरी में पैसा भरे, दौड़ा आया और मेरी चारपाई पर गिराते हुए अपनी जेब से दस रुपये का नोट निकाल कर, मुझे देते हुए कहने गला, "बुचऊ दादा ने कहा है, कि अपने भइया से कहना, शाम को हमारे घर ही खाएँगें।"

"बाप रे, बाप !" काकी बीच में बोल उठीं।

"क्या हुआ काकी, बस इतनी-सी बात के लिए"

काकी बोलने ही जा रही थीं कि बचनुआ ने एक हाथ उनके मुँह पर रखते हुए, कहा—

"कहा है, कि खसी काटेंगे...एक ही जगह बनेगा। सब लड़के जुटेंगे गाँव के......और...और...कहा है, पइसा दे देना...नोट भी दे देना, दस का फुटकर नहीं है।"

उसी समय काका बाहर से बिगड़ते हुए घर में घुसे, "पंचाइत के बक्से में रुपया नहीं था कि भेज दिया उसके घर, यह बार-बार की आवा-जाही ठीक नहीं है।" फिर कुछ नरम होते हुए, "क्यों इतनी धूप में चले आये, रुक जाते वहीं बजरिया में। अच्छा कुछ खा-पी कर सो रहो !" और वे बाहर चले गये।

"कहो बचवा, चन्ना का रुपिया मैं कैसे छूती ! यह तो जबसे कँगरेस-कमेटी के लेम्बर हुये, अकिलि मार गयी इनकी, छोटी-छोटी बात पर लड़ा करते हैं, बस रात-दिन चन्ना, कदम-कदम पर चन्ना।

जो यह बचनुआँ है न, हर महिन्ना स्कूल में एक-न-एक चन्ना देगा, मेरे नाको दम है, परसों मनिस्टर साहब आने को थे, तो दिन भर लाठी-गोजी रँगता रहा, दो बजे से उसर में खड़े-खड़े, साँझ हो गयी, पर नहीं आये। नन्हें-नन्हें बच्चे, हकसे-पियासे घर लौट आये। जानकी के बिटौना के तभी से जर चढ़ा है...सब कहते हैं लू लग गयी है। भगवान जाने !" काकी कहते-कहते खाना ठीक करने के लिए उठ गयीं और बचनुआ जल्दी-जल्दी बेना डुलाने लगा।

खाना खा कर लेटा, तो हवा के तेज़ झोकों की साँय-साँय कुछ कम पड़ने लगी थी। लू की लपटें, मिट्टी के पटौंधे घर में, बहुत कम लग रही थीं फिर भी काकी कई बार आतीं, बेना डुलातीं और किवाड़ी उठगा कर वापस चली जातीं। बचनुआँ ताखे में रखी, कौड़ी को ले कर खन-खनाता हुआ भागा तो वे फिर बिगड़ीं, "बुचऊ के दालान में न जाना, नहीं तो मार पड़ेगी तो मैं नहीं जानती !"

मैं समझ नहीं पाता था कि क्या बात है, जो बुचऊ निगाह से इतना गिर गया, आखिर यही काकी तो घंटों उससे हँसी-चिबोला करती रहती थीं।

—एक गगरा पानी बबुआ......तोहरे हथवा का बड़ा मीठा लगता है।

—रख न लो भउजी। पानी ही भरा करूँगा।

बाज़ार से चुपके से धोती मँगानी हो, तीज-त्यौहार का सामान करना हो, उधार-बाढ़ी पैसा मँगाना हो; सबके लिए बुचऊ। यहाँ तक कि परिवार के बड़े से बड़े मौके पर, वह काम आता। परिवार की गोपनीय से गोपनीय बातें उसे मालूम रहतीं।

काका चंदे के लिए एक बार बम्बई गये तो लौटने पर बुचऊ का किस्सा कहते-कहते लोट-पोट हो जाते। "चौपाटी पर उसे खबर मिली

कि मैं आया हूँ। बस, आव देखा न ताव, काँवर कहीं एक दूकान पर पटकी और ट्राम पकड़ कर तारदेव पहुँच गया। मैं बाहर जा रहा था पर बुचऊ तो बुचऊ, 'बिना चाय-पानी कैसे बनी, भइया! विस्सास नहीं होता है कि तुम आये हो' और वह पकड़ कर एक होटल ले गया, दसियों रुपये फूँक दिये। घर लौटते समय, सींधुर-टिकुली से ले कर साड़ियाँ, जम्पर, ब्लाउज़, बचनुओं के लिए कपड़ा और काकी के लिए बम्बा देवी का प्रसाद देते हुए कहने लगा, 'तोही लोग तो हो भइया! नहीं तो हम सुराजी पालटी में भरती हो जाते।'' फिर उसने जवाहिरलाल, महात्मा गाँधी, सबकी छोटी-छोटी तसवीरें काका को दी थीं।

बुचऊ को अपनी एक बेटी सरधा के अलावा कोई नहीं, मेहरारू मर गयी तो उसने कहा, "नार मुई, घर संपत नासी, मुड़ मुड़ाय होच सन्यासी" और वह सरधा को मेरे घर छोड़ कर, बम्बई चला जाता। सात-आठ महीने कमाता, फिर बहुत सारे कपड़े, गहने, सामान ले कर लौटता। गाँव में सबको सिगरेट की डिबियाँ और साबुन देता। गाँजा की पोटली खोलता और ऊपर से महात्मा गाँधी का संदेश पिलाता।

"चमार, मुसहर, भर, पासी...सबके हाथ मिलाये से देसवा जागी। गन्ही जी उन्हीं के हैं। कहते थे चौपाटी पर कि, वही हमको सबसे पियारे हैं। उन्हो का हूँ। देश है गरीब लोग का। सुराज मिलते ही इनका राज लौट आएगा।" और वह गाँव की छोटी जातियों को घूम-घूम कर आश्वासन देता है कि "भाई तुम्हारा राज है...अन्डोलन में हाथ लगाये रहो। रजिन्दर बाबू कँगरेस के मालिक हैं, उन्हीं की बात मानों।"

मुझे खूब अच्छी तरह याद पड़ता है जब वह एक दिन, एक रात बिना अन्न-पानी के रोता रहा था। अपनी लाल रंग की जाँघिया

और खाकी कमीज़ चरवाहे को दे दी थी। बिगुल गाँव के लड़कों को दे दिया था और जैहिन्द का सुभाष बाबू वाला बिल्ला मुझे देते हुए कहने लगा था, "धरे रहना बच्चन ! अब तो हमें सब बड़ा उदास लगता है। का हो गया महतमा के, रजेन्नर बाबू के, जवाहिर लाल के...हाय रे नेता जीव, न हुए तुम इस मोके पर" और वह खाए-पाए बिना बाज़ार जा कर लाये हुए अखबार को नोचने लगा था।

"हम तो जाने झूठ ही उड़ा है...फिरँगिया की कोई गोंटी हैं। कल रात सुना तो सवेरे बजार से परचा लेने गये। अखीर में बटी गया देसवा।"

"सरदार बल्लभ भाई कहाँ रहे ? समझात नही कुछ !" और जब सवेरे सभा हुई तो सब लोग बुचऊ सिंह को सुनने के लिए उतावले हो रहे थे। गाँव के किसान कहते, "भाई हम कैसे जाने कि आजाद हो गये...अँगरेज चले गये...हो ही नहीं सकता। भइया, सुई की नोक भर के लिए तो महाभारत हुआ, और यह सोने की चिड़या छोड़ कर जाएगा अँगरेज...! ना...ना...बुचऊ सिंह कहें तो मानें। वही कहेंगे तो दिया-बत्ती होगी। नहीं तो, कौन खरचे तेल-बाती ? घर की उरदी जेगरे में डाले।"

काका ने बहुत समझाया, बहुत कहा, पर बुचऊ तख्ते पर नहीं गया। फिर जब सभा से शोर होने लगा, तो वह अपने गमछे को लपेटते हुए धीरे से तखत पर चढ़ा। मुझे खूब याद है, वह रो पड़ा था, "हम कुछ कह नहीं सकते हैं, मुदा परचा में बचाय के सुना, तो सब जान पड़ा। हम तो खाली लड़ना सीखे थे...इसी से अजादी आने वाली रही। जवाहिरो लाल, गन्हियो महतमा यही कहे थे, 'देसवा हमरे जीव के समान है—कैसे बँटे ? क्या होगा, अइसा सुराज ले कर" मुदा सरधा-भगती से परनाम करो ! कुछ भवा जरूर है गड़बड़।

महतमा का, जवाहिर लाल का, हिन्न का नाम लो ? हमरे मन में तो अन्हियार छा गया है।"

—उसी के बाद बुचऊ बम्बई गया था, पर पता लगता था, अब वह परचा खरीद कर, हमारे गाँव के मुंशी जी की खोली नहीं जाता, न तो उनसे परचा पढ़वा कर सुनता ही है। वह काम-धंधे पर से भी हट गया है। दूध की काँवर ढोई नहीं जाती, उससे। घाटी-मरहटी औरतों की कतरनी-सी ज़बान सहने का साहस उसमें नहीं रहा। इसीलिए वह कभी तरकारियाँ बेचता है, कभी फल, और शाम को भँइसवारों के तबेले में, चिलम पर सारी कमाई फूँक देता है।

—कई साल से तो सरधा को महाजन की दूकान बता कर, बम्बई जाने लगा है। एक-दो बीघे ज़मीन भी उसकी अपनी थी, पर वह भी धीरे-धीरे चली गयी। एक-एक करके पेड़-पालव भी उसने बेच दिये...

मेरे विचार-सूत्र टूट गये। काकी ने धड़ से दरवाज़ा खोला और कहने लगीं, "दुलारा आजी बैठी हैं। पावलागन कर लेना बचन! बेचारी बहुत पूछती हैं।" मैं चारपाई पर उठ बैठा...आँगन से घाम चला गया था। बहुत शाम हो गयी थी। पर बाहर होने वाली बात सुनता, बैठा रहा....

"अरे मरकिनौना अधरमी हो गया है। चमार-सियार का छुवा-छिरका खाने से और क्या हो सकता है" फिर कुछ रुक कर "ये बचवा, सुना है न!" जैसे कोई गोपनीय बात कह रही हों, "कोई घाटिन औरत रखे है बम्बई में, इसी से तो कमाई-धमाई देखाती नहीं। कहाँ, आग पर गयी। सब तो वही अदमी हैं, वही कमाई है, उसी मुँह फुकाना के बज्जर पड़ गया।" दुलरा आजी कह चुकी थीं, अब काकी कुछ बोल रही थीं।

"एक ये भी आदमी हैं न भइया...कँगरेस के जिला भर के मालिक, मुदा बात जो चाहे कर लें, भला कह तो दो किसी का छुआ पानी पीने को। कहते हैं, 'सिधानत मानने में, करने में अंतर है।' एक खद्दर का कुरता-धोती रखे हैं। मिटिन में जाना होगा तो पहिन लेंगे, फिर घर लौट कर जैसे के तैस।"

"यही धरम है, ए बचिया। सबको इतना गियान कहाँ? कहा है, बाढ़ै पूत, पिता के धरमें। बड़े बाप के बेटा हैं न!"

मैं बाहर निकल पड़ा, बात समझ में आ गयी थी। शायद वह काका का विरोध करता है। किसी नयी पार्टी में चला गया बुचऊ। मैंने सुना, दुलरा आजी आशीर्वाद बरसा रही हैं, तो चाची की ओर देखने लगा। उनका चेहरा उतर गया था। मैंने आजी को प्रणाम किया और बाहर चला आया।

बचनुआँ कोली में से दौड़ा आया और मुझे दूर बुला कर कहने लगा, "बुचऊ दादा बुला रहे हैं। कलवा बन गया है, कहते थे,—ठंडा हो रहा है। बचन को जल्दी से बुला लाओ!"

मैं बहुत उदास था। एक तो दिन की थकन, दूसरे ये सारी बातें। आखिर गाँवों से यह अँधेरा कब जाएगा? अब तो हम, जैसे सब कुछ पा कर, स्वराज का सुख भोगने लगे हैं। हमारे भीतर का आदमी कहाँ चला गया? मैं सोचता-सोचता, बुचऊ के दरवाजे पहुँच गया। वह उदास बैठा था। मुझे देख कर फिस् से हँस कर रह गया, जैसे किसी गुब्बारे से हवा निकल गयी हो। सरधा ने कटोरी में कलवा दिया। मैंने हाथ में लिया ही था कि, वह कहने लगी, "मैं तो समझती थी, नहीं आओगे, भैया! काकी-काका ने...." उसे देखा—बहुत विस्मय से, यह कैसी हो गयी? इतनी बड़ी! इतनी सुंदर! लाल किनारे की पीली-पीली धोती पहन रखी थी, उसने। झुक कर पाँव

छूते-छूते उसका चेहरा लाल हो गया, मन की तहों में खराश लग गयी,—इसकी शादी होनी चाहिए, पर बुचऊ की ग़रीबी ? मै चुप रह गया। सहसा खयाल आया, ऐसे कैसे काम चलेगा ? तो बुचऊ से हाल-चाल पूछने लगा।

"हाल—चाल के दिन लद गये बचन, अब तो जीव जी रहा है। समझो जितने दिन चले यह काया।" इसी बीच सरधा मिट्टी के तेल की ढिबरी, दीवट पर रख गयी। मैंने इधर-उधर देखा, लोग आ-जा रहे थे पर कोई वहाँ न तो रुकता था, न बैठता था। हवा बहुत धीरे चलने लगी थी। बुचऊ के दरवाज़े की पोखरी के कारण ठंडा था। मैंने कहा, "कुछ राजनीति की बताओ, दादा !"

"राजनेत तो गन्ही महतमा के साथ चली गयी बच्चन ! विचार नहीं रहा अब, बिना विचार के नेति कहाँ ? देखा न..." वह बोलता जा रहा था। "अब काम-धंधा-सब में बेबिचारी आ गयी। जो कुछ आग-पानी हिरदय में रहा, वह बुझाय गया। हमका छोड़ा, नेता लोगों को देखा, उनका भी वही हाल। जिस कुरसी पर बैठ गये—बस वह उनकी हो गयी। अब तो कुरसी की नेति है। गन्ही महतमा का कुल काम-धाम धरा रह गया।"

"हो तो रहा है बहुत कुछ दादा।" मैंने उत्सुकता से कहा।

"क्या हो रहा है, धरम के नाम पर, जाति के नाम पर ओट उगहात हैं लोग। ठाकुर के ठाकुर, बाह्मन के बाह्मन, कहाँ गयी गरीबी ? कहाँ गया छूवा-छूत...? अब विचार नहीं रहा, बस ओट रह गया है।

"गड़बड़ तो यह है, कि लोक में से बात की मर्जाद उठ गयी। कहने—करने में भेद हो गया। गन्ही महात्मा कहते रहे, कि किसी

देस की आपन एक मरजाद होती है...आपन एक चरित्तर होता है, मुदा वह सब बुझ रहा है। वे अंधे हैं, जो इसे नहीं पहचानते।

"हम तो देखते हैं न, परदेश में—देश में, कि एक-एक आदमी कहाँ से कहाँ पहुँच गया। जो एक बुराई से लड़ने की बात रही—अपने भीतर की हो या बाहर की—कुछ खो के भी, सत्त पर, अहिनसा पर डटे रहने की बात थी; सब चली गयी।"

मैं स्तब्ध था, बुचऊ की बात सुन कर। कुछ कहते नहीं बनता था। मैंने पानी पीया, और फिर उसकी बातों में खो गया...

"वे सब अंधे हैं बच्चन, जो देख कर भी भूलते हैं। किसी देह में जब बीमारी से लड़ने की सकती नहीं रहती है, तो चाहे जो रोग खा जाए, कहा नहीं जा सकता है?

"अपने के देखो न! भइया दस हजार तिलक ले रहे हैं तुम्हारी शादी के लिए। का ऐसा वियाह होना चाहिए, पढ़े-लिखे लड़कों का? बस नौकरी मिल जानी चाहिए। नहीं तो, महतमा के कहने पर कितनों ने बियाह ही नहीं किया, कितने जेल गये, नौकरी-चाकरी छोड़े, स्कूल छोड़ दिये, असहजोग में, नून में। अब तो एक एक-कौड़ी छोड़ने में नानी मरती है। मुदा सब ठीक है....सब, कैसे कोई के.... हमही का कहीं....हमही," और वह खो गया था। स्वयं उसे लगा जैसे वह अपने साथ बेइमानी कर रहा है। मैंने इधर-उधर देखा, पर चारों ओर बुचऊ—वही ठूठे बाल—काँटों की तरह, आगे के दोनों काले दाँतों में, एक आधा टूटा हुआ और माटी के लोदे में बुझी हुई, दो घुमची की तरह आखें....

घर आ गया, दहलीज में गहरा अँधेरा था पर काका की आवाज़ साफ सुनाई दे रही थी, काकी को डाँट रहे थे, "कुछ इज्जत-बात

का ख़याल भी है उनको, एम० ए० तो पास कर लिया। मैंने गाँव भर को रोक रखा है, पर वे ही जा कर उसके घर खाना खा रहे हैं। आज सब पक्का पता चला गया कि ससुरे ने नौ सौ रुपयें और एक ऊँट दाना लिया है सरधवा की शादी के लिए। बेटी का बेच खा कर जिएगा, अब।"

चाची जैसे भौचक्की हो कर कह रही थीं, "नौ सौ रुपिया और एक ऊँट दाना!"

"हाँ हाँ, पर उनकी यही हाल रही, तो हम भी कहीं के नहीं होंगे। मना करने पर भी, उसके घर चले गये, तो पूछ लेना, शायद शादी पर भी कुछ कहना हो उनको।"

मैं उलटे पाँव बाहर लौट आया और चारपाई पर लेट गया।

—वह बेटी बेचता है—बेटी, और, और बुचऊ के मिट्टी के लोंदे के तरह के मुँह में निकले डेढ़ काले दाँत, मुझे चिढ़ाते रहे—बेविचार की नीति कहाँ? जो कुछ आग-पानी रहा, वह तो बुझ गया...."

सात्तुन

तीसरी बात का कोई सिलसिला न जुड़ा, तो बटुक ने झुँझला कर कहा, "कौन ऐसी बात कहता है, मुन्नू की माँ ! तुम तो ऐसे मेरा सिर खाये जा रही हो, जैसे कोई लड़के की कमाई खाने के लिए ही जी रहा है। ऐसा जाँगर नहीं टूट गया है। पढ़ाई-लिखाई ही सब नहीं होती, मुन्नू की माँ ! उसका तो नाम बाप को मिलता है। लड़के का काम तो इसके बाद शुरू होता है। शेर सिंह के बेटे को नहीं देखा, बी० ए० पास करके कलक्टर हो गया। माँ-बाप का मन भरता है ? कौन नहीं चाहता कि बेटा कुछ कमा-धमा कर सुख भोगे। दुनियाँ देखे तो कहे कि, किसी माई-बाप का लड़का हो तो ऐसा .."

"सो तो मैं कब से सुन रही हूँ, जी ! कभी शेरसिंह का लड़का, कभी मजिदिया का नाती, कभी मुनियाँ का भतीजा ! बस यही तो रह गये हैं तुम्हारे आगे। जब तक लड़का पढ़ता रहा, तुम रट लगाए रहे, क्यों नहीं वह भी उनकी तरह घर से नून-लकड़ी ले जाता, चूल्हा फूँकता; छुट्टी में गाँव आता तो क्यों नहीं घर-द्वार का काम देखता। अब नौकरी की सनक हो गयी है, तुम्हें। रोज कहते रहते हो, 'उमिर बीती जा रही है, लड़के घर-दुवार चेतते हैं, खेत-खलिहान देखते हैं।' आखिर साफ क्यों नहीं कह देते, कि अब वह तुम पर भार हो रहा है। नाक में दम कर दिया तुमने। खाते-पीते, सोते-जागते, 'मैंने पन्द्रह हजार खरच दिए, मुन्नू की माँ !'...तो सूद जोड़ कर बेच क्यों नहीं लेते ?"

माँ को जैसे गर्म हवा के झोंके ने झुलस दिया हो। कितने दिनों से पति की बातें सुनती-सहती आ रही थी, वह, पर राजेश के कानों

कभी किसी बात की भनक न होने दी। उससे तो कहती थी, "आखिर किस दिन के लिए है यह जगह-जमीन, मुन्ना? तू पढ़-लिख लेगा, इलम-हुनर आ जाएगा, तो हमारी कोख सुफल हो जाएगी, बेटा!..." और राजेश की आँखें भर आती थीं। वह कितनी ही बार माँ के आँचल में मुँह छिपा कर नन्हें बच्चे की तरह रो पड़ता था। पति की झक से दुखी होने पर भी वह बेटे से कहती "बड़े झंझट में हैं न तेरे बापू मुन्ना! तेरी बहिन की शादी से टेंट खाली हो गया है। फिकिर बड़ी खराब होती है। इधर बहुत दुबले भी तो हो गये हैं। कभी-कभी तो मुझसे सब कह डालते हैं। कहते हैं, 'सोचता हूँ मुन्ना की माँ, राजेश के लिए शहर में एक घर बनवा कर, बसा कर, तब छुट्टी लूँगा।' सब करेंगे बेटा! तू इधर-उधर की न सोचा कर। वे बड़े हैं न! बड़ों की किसी बात का बुरा नहीं मानते।"

पर माँ का धीरज सहसा किसी तेज़ धार में अटके हुए वृक्ष की तरह एक दिन उखड़ गया।—कब तक वह आग पर राख डालेगी? कब तक वह बेटे को भरम में डाले रहेगी? कब तक, कब तक?... —उसका सिर चक्कर खाने लगा। उसे लगा जैसे तूफ़ान को देख कर भी किश्ती के पाल को उसने नहीं खोला। क्यों जुगा-जुगा कर रखा उसने? किसलिए? वह धम से अपने घर के दरवाजे के सहारे बैठ गयी, किवाड़ की जंजीर झनझना उठी।

—कितनी छोटी-सी बात थी! उसने एक बट्टी साबुन ही तो लाने को कहा था। महीने भर हो रहे हैं राजेश को आये। छे महीने तो हो गये भटकते नौकरी के चक्कर में। नहीं मिलती कोई नौकरी, तो क्या परान दे दे, या वह ही उसे घर से निकाल दे? कैसी हालत हो गयी है! कपड़े-लत्ते कितने गंदे पहनने लगा है!—माँ की आँखें भर आयीं। नहीं कमाता, तो क्या हुआ? क्या उसके कपड़े भी वह साफ नहीं रख सकती और वह एक बट्टी साबुन भी नहीं ला सकते, उसके

लिए ? चार दिन से कह रहा था, 'माँ, बनियाइन से बदबू आती है। अब तू मेरे कपड़े भी नहीं देखती, मैं ऐसा हो गया, माँ ?' और वह भरी-भरी आँखों से देखता, बाहर चला जाता था। लेकिन माँ का कलेजा तो पत्थर का टुकड़ा हो गया है ! तब से चार दिन हो गये, वह कुछ नहीं कहता। वही कपड़े पहन कर कहीं आते-जाते उसकी आँखें झुक जाती हैं और यही बात उनसे कहती हूँ, तो कहते हैं 'कहाँ लाट-गवंडरी करने जाना है, जो उजला कपड़ा पहन कर जाएगा ? किसानों के लड़के ऐसे ही रहते हैं। साबुन के लिए, मैं अपनी देह तो बेचूँगा नहीं...'

माँ के सीने में, जैसे किसी ने कस कर घूँसा मार दिया हो। उसने सहसा अपने सीने पर हाथ रखा, तो वह तेज़ी से धक-धक कर रहा था। उसका शरीर पसीने से तर हो चला था। उसने ऊपर देखा, बखरी के कोने-कोने में गहरी उदासी छायी हुई थी। कहीं एकाध गौरैयाँ के जोड़े चूँ-चूँ कर देते थे और आसमान के एक कोने से बादल का गहरा काला पहाड़ मुँह बाये उठा आ रहा था। उसके मन में सहसा भय रेंग आया,—ऐसे बादल तो उसने कभी नहीं देखे थे। ये घर उजाड़ देंगे मेरा।...बहुत पुरानी पड़ गयी है बखरी, कहीं गिर गयी, तो ?—सोचते-सोचते वह ऊपर को देखती हुई उठी, तो उसके पैर पर कुछ गिर पड़ा। उसने उसे उठाया, पहले ज़ोर से हाथों में दबाया, सीने से लगाया और दोनों हाथों से उसे चेहरे पर रगड़ते हुए फफक-फफक कर रोने लगी। उसके भारी होंठ अनायास बुदबुदाने लगे, "ऐसे बदबूदार कपड़े तो कभी तुझे छूने भी न देती थी बेटे ! असगाँव-पसगाँव में यही तो कहा जाता था कि बेटा कोई रखे, तो मेरी तरह। कितनी ही बड़े घरों की औरतें जलती थीं मुझसे......कभी एक वक्त का पहना कपड़ा दूसरे दिन नहीं पहनने देती थी तुझे और आज...क्या तू बड़ा होने पर बेटा नहीं रहा ? क्या हमारा मोह इसीलिए था कि तू पढ़-लिख कर, कमा कर रुपये लाएगा ?" माँ को

आँखों के आगे अँधेरा छा गया। बादलों के पहाड़ कुछ और ऊपर को चढ़ आये थे। हलकी हरहराहट धीरे-धीरे कानों में भरने लगी थी। बीच-बीच में एक अजीब-सी भुन्नायी हुई घुमड़न बादलों के नाराज़ चेहरे को और भी खूँख्वार बनाती जा रही थी।

—यह बादल बड़े डरावने हैं, बड़े अशुभ, बड़े...,—माँ की नसों में जैसे बिजली दौड़ गयी।—क्या करूँ इनके लिए? घर के दरवाजे बंद कर लेने चाहिए, पर बाहर दहलीज में वे हैं न!—माँ जल्दी-जल्दी बाहर गयी, पर वहाँ कोई नहीं था। चारपाई के पावे से उठँगे हुए हुक्के से धुएँ की एक टेढ़ी-मेढ़ी लट ऊपर लहरा कर, खोती जा रही थी।—अभी ही गये हैं, लगता है। बाजार तो नहीं चले गये? हाय राम! कैसे लौटेंगे इतनी रात को पानी-तूफान में?—उसका डर और बढ़ गया। उसने जा कर हुक्के को उठाया, उसकी नली अब भी गर्म थी, चिलम की आग अब भी धधक रही थी। इधर-उधर झाँका, पर कहीं पता नहीं चला।—जरूर चले गये बाजार, जरूर...,—उसका सिर लटक गया, उसकी आँखें जमीन में धँस गयीं। उसने ऐसा कभी नहीं कहा था उन्हें। ऐसी कड़ी बातें तो वह बोलती ही नहीं थी कभी। तो क्या हो गया था, उसे? उसने अपने एक हाथ को दूसरे पर रखा और एकाएक फिर बीच में बनियाइन...साबुन लेने गये होंगे शायद। राजेश भी तो शहर गया है, वह सोच ही रही थी कि ज़ोर की चमक हुई, सामने दूर तक गहरी कालिमा के बीच, जैसे रोशनी का एक पर्दा गिर गया हो और सवाँ-मकाई की हरी-हरी पत्तियों पर बिजली की रेखा खिंच गयी हो। माँ को लगा, जैसे यह सब डर गये हैं, इस चमक से। जल्दी भाग कर घर में चलना चाहिए, वर्ना सब डूब जाएगा। उसने दहलीज के दरवाजे उठगाये, तो बैलों के डाकराने की आवाज़ से वह पागल हो गयी। क्या करे, वह इन जानवरों को कहाँ छिपाए, कहाँ ले जाए? उसने दरवाज़ा फिर खोला, तो धवरी की बछिया

चौखट से सटी सिकुड़ गयी थी। पानी की सरसराहट से पौधों की पत्तियाँ झुक गयी थीं।

माँ बाहर निकल पड़ी। चरही पर बँधे बैल पेर रहे थे। उनके पगहे कीचड़ में लथपथ हो गये थे। वह एक के खूँटे के पास झुकी, उसे खोल कर किसी तरह छोड़ा ही था कि ज़ोर का पानी बरसने लगा। लेकिन दूसरे का क्या होगा? वह तो मरकहा है न! वह सोच ही रही थी कि बैल उसकी ओर झपटा और खूँटे के साथ तुड़ा कर उसके ऊपर आ गया। वह भागना ही चाहती थी, पर खूँटे में बझ कर एक ओर को लुढ़क पड़ी। उसके घुटने फूट गये और बैल तेज़ी से भाग गया।

गोली की तरह पानी की बूँदें, ज़मीन पर गिरने लगीं पर माँ को सुधि कहाँ! थोड़ी देर तक वह वैसे ही भींगती रही। होश आने पर वह धीरे-धीरे उठी, तो उसके कपड़े कीचड़ में लथपथ हो गये थे। फिर सहसा चमक हुई और ज़ोर से बादलों की गरज हुई। माँ ने अपने कान बंद कर लिये और ज्यों ही एक पैर उठाया कि दूसरे में जैसे कोई चीज फँस गयी। वह चौंक पड़ी, साँप तो नहीं है? उसने नीचे देखा, वही बनियाइन! उसका जी काँप गया।—राजेश की गाड़ी आएगी इसी समय, फिर वह कैसे आएगा अकेले टीसन से, इतनी दूर? लेकिन हो सकता है, उनसे भेंट हो जाए बाजार में और दोनों साथ ही आएँ।—उसका मन धीरज खोजने लगा। धीरे-धीरे वह घर में गयी और दहलीज का दरवाज़ा बंद करके आग की बोरसी ढूँढ़ती रही। देर तक सनई को आग पर फूँकने से रोशनी हुई, तो माँ को ढारस बँधा। उसने ढिबरी जलायी और अपने फूटे हुए घुटने को देखने को झुकी, तो हाथ की बनियाइन उसकी नाक से छू गयी। उसे लगा, राजेश कह रहा है, "माँ, अब तो तू मेरे कपड़े भी नहीं देखती न?..."उसका दो पल पहले बँधा हुआ सारा ढारस जैसे

किसी प्रेत के मज़बूत पंजे में कस कर चूर हो गया हो। वह अपने को ही खोजने लगी,—कहाँ हूँ मैं ? क्या हूँ मैं ? मैंने ही यह सब किया है। मैंने ही बिगाड़ा है सारा घर, वर्ना खेती-बारी देखता, मोटा खाता-पहनता, जैसे सब रहते हैं, वह भी इसी घर में पड़ा रहता। अब तो उसके पंख निकल आये हैं। उड़ने के लिए जगह चाहिए।—माँ की आँखें सामने टिमटिमाते हुए दीपक पर टिकी हुई थीं। बाहर बूँदों की दीवार थी और भीतर माँ की देह। उसके कपड़े भींग गये थे, पर उसे साहस नहीं होता था कि उठे और कपड़े तो बदल डाले।

सहसा दरवाज़ा खटका और माँ ने बनियाइन अपनी धोती में छिपा ली।—राजेश ही होगा। ऐसे ही खटकाता है दरवाजा। —वह तेज़ी से पहुँच गयी दरवाजे पर, और खोला, तो भींगा हुआ कुत्ता शरण खोज रहा था। उसे देख कर वह कुछ चिढ़ी, "तो तुम भी रह गये थे बाहर !" दरवाज़ा बंद करने लगी कि ज़ोर का झोंका आया, दरवाज़ा भड़ से खुल गया, पानी की बौछार से घर का आधा हिस्सा भींग गया। एकाएक चमक हुई और बिजली ऐसी कड़की कि आँखों से चिनगारियाँ निकलने लगीं, जैसे किसी ने ईंट पटक दी हो उसके सिर पर। फिर उसके दिल में सहसा बिजली गिरने की बात कौंध गयी।

—जब इतने दिन नहीं गये, तो आज ही क्या पड़ी थी बाजार जाने की ? वह अस्फुट स्वरों में बुदबुदायी,—छे आने की ही बात तो थी, जब इतने पैसे खरच दिये तो...उसका ध्यान अपने हाथ-पाँव की ओर चला गया। कीचड़ में सब लथपथ था।—अगर राजेश आ गया अभी और उसे नौकरी मिल गयी हो, तो वह उसे कैसे प्यार करेगी, कैसे सीने से लगाएगी ? वह उठ खड़ी हुई, धीरे-धीरे बाहर गयी। बारिश का ज़ोर अभी वैसा ही था। आँगन में पानी भर गया था और चौखट के ऊपर से धीरे-धीरे घर में आने लगा था। माँ की

बेचैनी बढ़ गयी। आखिर आज क्या होने वाला है, भगवान ? उसने मन ही में कहा और दरवाज़े से बाहर सिर करके बादलों को देखने लगी। पर कुछ भी दिखाई न दिया। वह थक गयी थी। भींगे हुए कपड़ों में उसे सर्दी लगने लगी थी। उसने थोड़ी और सनई आग पर डाल दी और अरगनी पर से धोती उतार कर बदलने जा रही थी कि फिर दरवाज़े की आवाज़ से चौंक उठी। भींगा हुआ राजेश...और उसने आज कुरते के नीचे बनियाइन भी तो नहीं पहिनी है। लेकिन वह तो होंगे साथ।...

दौड़ कर उसने दरवाज़ा खोल दिया पर यह तो हवा थी। मैं कैसी हो गयी हूँ, वह सोचने लगी और लौट कर धोती बदलने लगी। अगर इसी बीच वह आ गया तो ! उसने लपक कर बनियाइन उठा ली और अपनी बंडी में छिपा लिया। अभी पानी में धो कर सुखा लेती हूँ, फिर देखा जाएगा। पर एकाएक बिजली की चमक ने माँ की आँखें बंद कर दीं। उस दिन दोपहर का पूरा दृश्य उसकी आँखो में नाच गया।

—बनियाइन धो दो, माँ, तुमने ? लगता है, बाबूजी खुश हैं आजकल। साबुन लाये हैं क्या ? मेरे दो कपड़े और धो देना, माँ ! परसों शहर जाना है।—और उसने लपक कर अरगनी से बनियाइन उतारी और उसे सूँघते ही फिर जैसे उसका चेहरा उतर गया और बापू का कहना कि, भाई अब मुझसे नहीं चल रहा है, देखो कहीं कोई काम-धंधा, उसके कानों में गूँज गया था और इसीलिए वह तेज़ी से बाहर चला गया था।

छे महीने में राजेश क्या से क्या हो गया ! फिकिर में हड्डी भी सूख जाती है, माँ सोचने लगी। सोचते-सोचते वहीं बगल में पड़ी चारपाई पर बैठी, तो हल्की आग की आँच की गर्मी और बारिश के स्वर ने उसकी आँखें बंद कर दीं।

—बड़ा प्यारा बेटा है तुम्हारा, दीदी ! कैसे इतना साफ़-सुथरा रख लेती हो, इस गाँव की धूर-माटी में ?—उसकी शहरी बहिन पूछती है और राजेश को गोद में कस लेती है।—जैसे संगमरमर ही पर तो चलता है रात-दिन ! कहाँ मिलता है इतना साबुन की हरदम बकुले के पंख की तरह चमकाये रहती हो ?

—क्या करूँ ? यहाँ के धोबियों की न पूछो ? कपड़े को और भी गंदा कर देते हैं। गाँव की पोखरियों का पानी जानती नहीं। कई बार तो राजेश के कपड़े उबालने पड़ते हैं और ये हैं कि जब बाजार जाएँगे साबुन की बट्टी लेते आएँगे। जरा-सी धूल लगी नहीं कि...

—अब काम नहीं चलता, मुन्नी की माँ ! कर्ज़ बढ़ता जा रहा है, भाई ! राजेश से कहो, इतना खर्च न किया करे। गाँव के लड़कों को नहीं देखतीं, नमक-तेल तक घर से ढो कर ले जाते हैं, अपने हाथ से रोटी ठोकते हैं, पढ़ते हैं। लेकिन तुम्हारे राजेश के मारे, भाई नहीं चलती...

बारिश धीरे-धीरे बढ़ने लगी थी। एक बार ज़ोर की बिजली की तड़प हुई और माँ ने करवट बदल ली। दो-एक बार वह कुछ अस्फुट स्वर में बुदबुदायी।

—चार महीने की फ़ीस, इम्तहान की फ़ीस, कपड़े के लिए रुपये और बाक़ी खर्च, अबकी दो सौ चाहिए, मुन्ना की माँ ! कोई नहीं देता, एक भी पैसा।

—यह मेरे जेवरों का बकसा है। किस दिन के लिए है यह सब। अब सब कर-कराके आखिर में थोड़े के लिए पीछे क्यों हटोगे ? राजेश जैसा रहा, वैसे ही रहेगा। क्या हम मर गये हैं, जो वह अपने हाथ से खाना बनाये ? छाती पर पत्थर रख कर, जिसे आँखों की ओट किये हूँ, जिसे कभी मैंने तिनका तक न तोड़ने दिया, उसे

कहूँ, लकड़ी-चूल्हा...वह हड़बड़ा कर उठ बैठी, कमरे में कपड़ा जलने की बदबू भरी हुई थी। इधर-उधर देखा तो बोरसी की जलती हुई सनई पर राजेश की बनियाइन गिर पड़ी थी। वह चिल्ला पड़ी, "कैसा अशुभ हो गया यह!" उसकी आँखों के आगे अँधेरा छा गया। उसने बचे हुए टुकड़ों को ले कर अपने हाथों में दबा लिया। तभी दरवाज़े पर दस्तक हुई। वह घबराई हुई दौड़ी गयी और दरवाज़ा खोला, तो बटुक अपराधी-सा खड़ा था। पानी में भींग कर उसका सारा शरीर सिकुड़ गया था और उसकी आँखें झँपती जा रही थीं।

"राजेश को नहीं ले आये? वह भी तो गाड़ी से उतरने वाला था?" माँ ने झपट कर पूछा।

"नहीं" बटुक ने धीरे से कहा और भीतर की बनियाइन से एक भीगा-सा कागज़ का टुकड़ा निकाल कर देते हुए कहने लगा, "उसका एक साथी लड़का टीसन पर उतरा था, इसी गाड़ी से, उसी ने दिया है। राजेश की चिट्ठी है—

—तुम सोचोगी, बिना बताये ही चला गया। पर बता कर जाना कैसे होता? मैं दोष किसे दूँ, अपने को या तुम लोगों को! मुझे तुमने ऐसा बना ही दिया। आज भी जब दर-दर घूम कर नौकरी के बारे में बात करनी होती है, तो कितना बुरा लगता है मैं क्या बताऊँ। कुछ समझ नहीं पाता। तुम जो बनाना चाहती थी मुझे, वह गलत था, माँ! हम अपने से टूट कर धूल में ही मिलेंगे।

—शहरों में चिकने लोगों का राज्य है, जो शिफ़ारिस और घूस पर जीते हैं। मैं क्या कर सकूँगा यह आज भी नहीं समझ सका हूँ। पिताजी की परेशानी जानता हूँ। कुछ करूँगा जरूर। उनसे कहना चिंता न करें, अब उन्हें परेशानी में नहीं डालूँगा।

माँ हतबुद्धि-सी बटुक की ओर देखती रह गयी, जैसे पत्थर हो गयी हो। बनियाइन के टुकड़े हाथ से गिर गये, लेकिन आँखें बटुक की ओर लगी रहीं।

बटुक ने अपने भींगे हुए कुरते की जेब से साबुन की एक छोटी-सी बट्टी निकाल कर आगे कर दी।

मिस शान्ता

"आइए! आइए! आप तो उस दिन के बाद दिखाई ही न पड़े! मैं सोचती थी, घर आएँगे ज़रूर। पर घर तो दूर रहा, सिविल लाइन की शामें भी छोड़ दीं आपने।" मिस शान्ता ने बड़ी उत्सुकता-पूर्वक दरवाज़ा खोलते हुए कहा। फिर ड्राइंग रूम के पीछे वाले कमरे का पर्दा उठाते हुए कहने लगी, "चले आइए न, यहां बैठेंगे, ज़रा आराम रहेगा। हाँ, आप तो काफ़ी पीना पसंद करेंगे न? उस दिन बरोरा ने बताया था कि आप चाय नहीं पीते, घूमते-फिरते भी कम हैं।"

"जी, यही कभी-कभी इधर-उधर निकल जाता हूँ, लेकिन... लेकिन..."

"आप संकोच कर रहे हैं! आराम से बैठिए। मैं अभी काफ़ी लाती हूँ।" और वह उठ कर अंदर चली गयी। खासी-अच्छी औरत है। चाल-ढाल, कपड़ा-लत्ता-सब जैसे सुरुचि का परिचय देते हैं। रुआसी-रुआसी-सी, स्थिर, एकाग्र आँखें—जैसे हमेशा कुछ सोचती हो। पर यह अकेली है—मिस...जवान लड़की, पच्चीस-छब्बीस वर्ष उम्र...। मेरा दिमाग़ झनझना उठा। बरोरा का लम्बा-चौड़ा शरीर और भूखा, नशे में घायल आँखें और खूँख्वार स्वाभाव—मेरी आँखों में जैसे किसी ने कंकड़ मार दिया हो। लेकिन मिस शान्ता तो उसके साथ प्रायः घूमती है! और उसी ने तो चाय-घर में मेरा परिचय इनसे कराते हुए कहा था, "किसी दिन आओ भी, यार! कुछ दूसरी दुनियाँ भी देखा करो, वरना एक दिन प्राण निकल जाएँगे और सब जैसे-का-तैसा धरा रह जाएगा..." और वह औरतो को,

तो भेड़ ही मानता है न ! हाँ, एक दिन तो कहता था कि पुरुष वही है जो...” उफ़ ! यह बड़ी ग़लत जगह होगी...बड़ी...

“क्या सोच रहे हैं ?” मिस शान्ता ने काफ़ी के दो प्याले एक नन्हीं तिपाई पर रखते हुए कहा। मैं चौंक पड़ा। “जी—कुछ नहीं—आपका कमरा देख रहा था। बड़ा सुंदर है। बड़े करीने से सजा है, इसकी सादगी मुझे बड़ी पसंद है।” मैंने एक साथ कह डाला। फिर एकाएक आँखें उठा कर देखा, तो मिस शान्ता ने अपनी हल्की-पीली साड़ी का सुनहला किनारा सिर के आधे भाग पर टिका लिया था और उसका आँचल हवा के हल्के झोंके में धीरे-धीरे हिल रहा था। चेहरे की उदासी जैसे कुछ और गहरी लकीरों में घनी हो गयी थी और आँखों के किनारे कुछ अजीब से भीगे-भीगे नज़र आने लगे थे। वह कहने लगी, “अरे, आप ऐसे ही बैठे रहे ? यहाँ बहुत-सी पुस्तकें और पत्रिकाएँ तो थीं, कुछ देखते ही तब तक ! बराबर के कमरे में मैंने एक छोटी-सी लाइब्रेरी बना रखी है, किसी दिन आ कर देखिए।”

मुझे कुछ राहत-सी मिल गयी थी। मैंने संकोच का अनावश्यक पर्दा उतार फेंकने के लिए अपनी आँखों को इधर-उधर दौड़ाया। दीवार पर कई सुंदर कलात्मक चित्र टँगे थे। मेरे बिलकुल सामने कुहासे की झीनी पीठिका में एक प्रेमी जोड़े का चित्र लगा था। मेरी निगाहें रह-रह कर उस पर टँग जाती थीं और मैं कुछ कहते-कहते रुक जाता था। तब तक मिस शान्ता ने एक अजीब ममतामयी आवाज़ में कहा, “यह चित्र शायद आप पसंद न करें। बरोरा की पसंद है यह। मुझे खुद संकोच होता है, पर क्या करूँ वह इसे बहुत पसंद करता है।”

फिर वे काफ़ी बनाती धीरे धीरे बोलती रहीं—किसी मैदानी नदी की निस्तेज धार-सी। कहीं भी चढ़ाव-उतार नहीं, जैसे कोई मोह, माया, आस्था उसके नज़दीक न हो। मैं भी ऐसे अवसर पर कुछ

कहना उचित न समझ कर, चुपचाप बैठा काफ़ी पीता रहा। रात बढ़ती जा रही थी और हल्की-हल्की सर्दी की सिहरन, हवा की लहरों पर रह-रह कर थिरक उठती थीं, जिससे शान्ता का आँचल और दरवाज़े का पर्दा साथ-साथ हिलने लगते थे। मैंने साहस करके पूछा, "आप अकेली ही यहाँ रहती हैं ?"

"जी हाँ, बिलकुल अकेली। पहले तो एक दाई रहती थी, अब उसे भी हटा दिया है। स्कूल का चपरासी रात को सोने आ जाता है।"

"स्कूल का चपरासी ?" मेरी बात में कुछ खिंचाव आ गया था।

"जी, मैं नर्सरी स्कूल में पढ़ाती हूँ।"

"मेरी बच्ची भी तो वहीं है।" मैं कुछ प्रसन्न हो गया। मिस शान्ता का दुख कुछ और उभर आया। फिर उसने मेरी पत्नी के बारे में पूछा और यह जान कर उसे बड़ा दुख हुआ कि बच्ची के जन्म के बाद ही से वह चारपाई पर से उठ नहीं सकी। हालत दिन पर दिन खराब होती जा रही है। फिर स्त्री के उत्सर्ग और गृहस्थी में प्रेम-भाव और आस्था की बात करते-करते वह जैसे अपने ही में खो गयी।

"अच्छी गृहस्थी और स्त्री-पुरुष के नैतिक सम्बन्धों में ही तो जीवन का सच्चा सुख है। मैंने उसी दिन आपको देख कर अन्दाज़ लगा लिया था कि आप समाज के उन पुरुषों में से हैं, जो उसकी गति में सहायक होते हैं। बहुत अच्छा है। मुझे यह जान कर बेहद खुशी हुई कि आपकी बच्ची मेरे स्कूल में है।"

"खजन नाम है उसका, अभी इसी साल तो गयी है, ज़रा ध्यान रखिएगा !" मैंने जैसे जल्दी में कह डाला हो, क्योंकि मेरा ध्यान घड़ी पर चला गया था।

"खंजन ?" जैसे उसकी आँखों में एक हल्की हँसी की लहर आयी, "बड़ी प्यारी बच्ची है आपकी ! मेरे ही साथ तो है वह। मेरे यहाँ बड़ी चर्चा रहती है उसकी, क्योंकि पहले दिन जब वह मेरे पास

आयी, तो नाम सुनते ही मेरे मन पर 'सूर' की लाइन दौड़ गयी, "खंजन-नयन रूप-रस-माते', और मैं प्रायः उसे देखने के बाद इसे गुनगुनाने लगती हूँ।"

मैं हैरत में रह गया, क्योंकि मैंने यहीं से बच्ची का नाम उठाया था। मैंने काफ़ी का सिप् लेते हुए देखा, तो वह जैसे खोज-भरी निगाह से मेरी ओर देख रही थी। मैंने निगाह बचाने के लिए ही घड़ी की ओर देखा, पर वह एका-एक बोल उठी, "नौ बज गये, देर हो रही है, आपको। धैर्य रखिए और किसी अच्छे डाक्टर को दिखा कर इलाज कराइए। कोई ऐसी घबराने की बात नहीं।"

"कोशिश तो बहुत कर रहा हूँ, लेकिन..."

"लेकिन नहीं, आप आशा रखिए। मेरी एक मित्र बड़ी अच्छी लेडी डाक्टर हैं। कल उन्हें भेज दूँगी, यही आठ बजे के करीब, घर ही पर रहिएगा..."

एकाएक बातों का सिलसिला टूट गया। दरवाज़े पर किसी ने दस्तक दी थी। मैं उठ खड़ा हुआ। देखा तो शान्ता के चेहरे पर एक अजीब-सा भाव दौड़ गया था। उसने कमरे में इधर-उधर निगाह दौड़ायी, जैसे कुछ ढूंढ़ रही हो। उसकी आँखों की स्थिरता में जैसे कोई लहर आ गयी हो, जो दरवाज़े की दस्तक के साथ गहरी होती गयी।

मैंने कहा, "क्षमा कीजिएगा, बहुत समय ले लिया आपका।"

"ऐसी कोई बात नहीं, पर खबर ज़रूर देते रहिएगा।" और उसने आगे बढ़ कर दरवाज़ा खोल दिया। सामने बरोरा खड़ा था, उसके मुँह से अचानक निकल पड़ा, "हल्लो डार्लिंग!" और हाथ उठे ही थे कि मैं सामने आ गया। "अच्छा, तो आप हैं! खूब भाई, खूब!" और हाऽहाऽहाऽहाऽ की लड़खड़ाती टूटती आवाज़ में वह हँसने लगा। फिर एकाएक जैसे होश सँभालते हुए, उसने मेरी कलाई

पकड़ ली, "चलो भाई, कुछ शगल ही रहेगा, न रम सही, बियर ही लेना थोड़ी—यहाँ सब मिल जाएगा।"

मिस शान्ता जैसे घबरा गयी हों, क्योंकि उसने बरोरा का हाथ खींचते हुए कहा, "उन्हें जाने दो, घर में बीमार हैं।"

"अरे हाँ, भाई! तुम तो पत्नी वाले हो न! जाओ! जाओ!!" कहते हुए उसने दरवाज़ा बंद कर लिया। मुझे बेहद दुख हुआ। पर अपनी इस बरकरार वापसी की बात सोच कर प्रसन्नता भी हुई। हाँ, मेरे हाथ का वह हिस्सा, जो बरोरा की मुट्ठियों में आ गया था, जैसे किसी लोहे की कड़ी से छूटा हो। मैंने उसे सहलाया और नीचे उतर ही रहा था कि कानों में आवाज़ आयी, "रुको भी बरोरा।"

"हाऽहाऽ...यह नयी बात...यह नया रंग..." मेरा सिर चकराया...पाँव थरथराये। जी में आया, लौटूँ। रुका भी। शायद मिस शान्ता के साथ यह ज़्यादती करता है—डराता है। पर एकाएक बरोरा की हँसी फिर कानों में गूँज गयी—"आज एक पूरी बोतल ली है, डार्लिंग! निकालो तुम भी कुछ आज, जी-भर कर पिओ और पिलाओ...हाऽहा..."

—उफ़! यह सब मैं क्या सुन रहा हूँ! सब झूठ है, गलत है,! यह कोई आवाज़ नहीं! केवल भ्रम है, मेरे कानों का भ्रम, मन का भ्रम! और मैं जल्दी-जल्दी क़दम बढ़ा कर सड़क पर आ गया। पर जैसे वह भयानक आवाज़—वह खूँख्वार हँसी—वे रुआसी आँखें मेरे पीछे-पीछे दौड़ रही हों। मैं और तेज़ी से चलने लगा और किसी तरह घर पहुँच कर मैंने साँस ली।

सुबह अभी बिस्तर ही में था कि खंजन ने मामाऽमामाऽ पुकारते हुए लिहाफ़ खींच-खाँच कर अलग कर दिया। आँख खोलते ही देखा, तो शान्ता अपनी सहेली लेडी डाक्टर के साथ मेरे पास ही खड़ी है।

"रात देर में नींद आयी, माफ़ कीजिए। कब की आयी हैं आप लोग?"

"अभी, अभी तो!" शान्ता ने अत्यन्त आत्मीयता से कहा और मेरी ओर देखती रही। सुबह की किरणें कमरे में फैली हुई थीं। हवा बहुत धीरे-धीरे चल रही थी। मैंने देखा, तो शान्ता की सहेली डाक्टर मेरे कमरे की दीवारों, छत और फ़र्श, सब पर बड़ी तेज़ी से निगाह दौड़ा रही थी। वह बड़ी प्रखर-सी लगती थी। कहने लगी, "जल्दी कीजिए, मुझे खंजन की माँ को देखना है, मैं आज उनकी स्क्रीनिंग भी करना चाहूँगी।"

मैंने उन दोनों को मरीज़ तक पहुँचा कर जल्दी से हाथ-मुँह धोया और उन्हें चाय पिलाना चाहा। पर जैसे ही मैं बाहर आया, शान्ता मेरे पीछे-पीछे खंजन को लिए आ धमकी। कहने लगी, "नौकरानी कहाँ है, आपकी?"

"अभी आयी नहीं, जाने क्या हो गया?"

"तो मैं चाय बना लूँगी, आप हाथ-मुँह धो लें।"

मैं कुछ कहना ही चाहता था कि खंजन ने शान्ता का हाथ खींचते हुए कहना शुरू कर दिया, "मदर! आओ, मैं कोयला देती हूँ, तुम आग जलाओ—फिर चाय बना लेंगे, खाना बना लेंगे, जाने दो नौकरानी को।"

शान्ता खंजन के इशारे पर डोलती गयी—बहुत ही नन्हें बच्चे की तरह, बिना किसी आग्रह के। हाथ मुँह धोने और कपड़े बदलने में मुझे कुछ देर लग गयी। फिर एकाएक रात वाली घटनाओं का क्रम दिमाग़ के सामने आया। मन में चिढ़ हुई, घृणा भी। पर नहीं-नहीं यह बिल्कुल दूसरी शान्ता है, वह कोई और रही होगी। मैं सोचता जा रहा था कि देखा, चूल्हे पर केतली चढ़ी हुई है और रसोई का कमरा साफ़ सुथरा हो गया है। बाहर खंजन बड़े प्रेम से मदर की गोद में बैठ कर अपने हाथ-पाँव धुला रही है। बगल में कंघी, शीशा,

पाउडर और बाल बाँधने के रिबन एक तिपाई पर पड़े हैं। मुझे अचम्भा हो रहा था। शान्ता के चेहरे पर कहीं भी उत्साह के भाव न थे, कहीं• भी नवीनता का आग्रह न था, जैसे वह रोज़ ही यह काम करती हो। वैसे ही आँखें, जैसे किसी अथाह समुद्र में तिरतीं-तिरतीं—वैसा ही मनोहर मातृव्य रूप, जिसकी अतल-सी गहराई।

मैंने पास जा कर कहा, "यह क्या करने लगीं आप ?"

पर शान्ता ने जैसे सुना ही न हो। फिर कुछ देर रुक कर कहने लगीं, "थोड़ा आॅडिकलोन और क्यूटीक्यूरा भी रखना चाहिए। बच्चे धूल-मिट्टी में खेलते हैं न !" फिर एकाएक जैसे सचेत होते हुए बोलीं, "देखिए, डाक्टर ने कमरा खोला या नहीं !" मैंने देखा, तो कमरा खुल गया था। शान्ता ने मुझे वहीं चलने को कहा और थोड़ी देर में चाय ले कर कमरे में आयी। चाय पीने के बाद, डाक्टर ने मरीज़ की हालत बतायी और मुझसे एकान्त में बुला कर कहा, "एक्सरे आज करूँगी, पर बच्ची को ज़रा सँभालिएगा।" शान्ता इसे सुनते ही जैसे चौंक पड़ी हो। उसने खंजन को अपने पास खींच, उसके सिर को अपने दोनों हाथों से दबा लिया। उसका चेहरा उदास हो गया। आँखें जैसे कुछ कहते हुए भी बंद हो जाना चाहती हों। डाक्टर ने नमस्ते करके छुट्टी ली, पर शान्ता जैसे रुकना चाहती हो। उसने खंजन से जाने क्या-क्या धीरे-धीरे कहा। फिर मुझसे जैसे साहस करके कहने लगी, "दोपहर को उसका खाना मत भेजा कीजिए।" डाक्टर ने शान्ता को आवाज़ लगायी। वह मोटर स्टार्ट कर चुकी थी और शान्ता किसी तरह खञ्जन से छुट्टी ले कर जल्दी-जल्दी मोटर तक बढ़ गयी, पर फिर लौट पड़ी। "इसकी ट्रॉफ़ी का पैकेट तो मेरे ही साथ चला जा रहा था, दूध गर्म करके, छान कर दीजिएगा, एक्सरे के लिए ज़रूर चले जाइएगा।" शान्ता ने जल्दी-जल्दी कहा और वह लौट गयी।

दूसरे दिन शाम को जब मैं एक्सरे की रिपोर्ट लेने सिविल लाइन गया, तो पता चला कि मिस शान्ता अभी आयी थीं और डाक्टर को ले कर किसी टी० बी० स्पेशलिस्ट के यहाँ कुछ मशविरे के लिए गयी हैं। सम्भवत: घटे-दो-घटे में लौटेंगी। मेरा मन बड़ा उदास-सा था क्योंकि पत्नी की हालत दिन पर दिन ख़राब होती जा रही थी। मैं वहीं घूमने लगा। अभी शाम हुई थी, सड़कों पर भीड़ की गरमाहट नहीं हुई थी, इसलिए किसी मित्र के भी मिलने की आशा नहीं थी। मैं अनमना-सा टहल ही रहा था कि बरोरा आता दिखाई दिया—बड़ा खोया-खोया-सा, उदास और हतप्रभ। मैंने रास्ता बचा जाना चाहा, पर उसने अपनी मोटर-बाइक खड़ी करते हुए मुझे बुलाया। मुझे फिर रात की सारी बातों का स्मरण हो आया और मैं लौटना ही चाहता था कि वह मेरे पास तक चला आया और मेरे कन्धे पर दोनों हाथ रख कर, कहने लगा, "लगता है, तुम बुरा मान गये, यार! अभी कच्चे हो इस दुनियाँ के लिए, वरना, उस दिन इतनी जल्दी भागने की ज़रूरत थी? यह तो एक संकोच-भर है, जो हटाने से हट जाता है, बढ़ाने से बढ़ जाता है, फिर शान्ता के लिए..." वह जैसे एक गहरी मुस्कराहट में डूब गया, "ख़ैर, देखा जाएगा..." और वह मुझे पकड़ कर काफ़े में ले गया।

शान्ता के बारे में ऐसी बात सुन कर मुझे दुख हो रहा था, पर कुछ ऐसा लग रहा था कि मैं किसी अपरिचित मानव-समाज में एक शिशु की हैसियत से घुसा हूँ। सोचा, इससे कुछ जान ही लूँ, तो क्या हर्ज है? इसलिए चुप-चाप उसके साथ बैठा रहा। उसने मेरे लिए काफ़ी मँगायी और अपने लिए ह्विस्की। थोड़ी देर पत्नी की बात पूछने के बाद वह फिर शान्ता पर उतर आया। थोड़ा नशा भी शुरू था—उसका दुख और गहन हो गया और आँखों की रोशनी तेज़ पड़ती गयी—"तुमने सब चौपट कर दिया, यार! वर्षों का बना-बनाया खेल जैसे बच्चों के खिलौने-सा बिगड़ गया। काश, उस दिन

तुम्हें मैंने रोक लिया होता !" वह माथे पर हाथ टेक कर बैठ गया, "अब तो कोठों की ही शरण लेनी पड़ेगी।"

मुझे आश्चर्य हो रहा था, पर मैंने बात बढ़ाना ही उचित समझा, "कुछ समझ में नहीं आता, बरोरा ! तुम्हारी बातें भी क्या अजीब होती हैं। मेरे वहाँ रहने से क्या होता ?"

"कुछ नहीं, पर यह न होता, जो हो गया। तुम्हारे सामने भी तो सब-कुछ हो सकता था। शान्ता के लिए यह कोई नयी बात तो नहीं।"

"नयी बात ? कुछ समझ में नहीं आता !" मैंने उतावली से कहा।

"यही यार ! कि उसे अनेकों से सम्पर्क रखने में कोई संकोच नहीं। वह आदी है। उसके जीवन का पहला विश्वास ही यही था।" उसका नशा कुछ और गर्म हो चला था, इसलिए उसे बोलने में अब प्रयास नहीं करना पड़ रहा था, "अपने अठारहवें वर्ष में यह एक ऐसे लड़के के चक्कर में फँस गयी, जिसके लिए यह और उसका एक मित्र एक ही से थे।"

मुझे जैसे किसी ने गरम सलाख़ से दाग दिया हो, "बस करो बरोरा, बहुत हो गया, कल तक तुम्हीं तो शान्ता के गुण गाया करते थे, आज ऐसा क्या हो गया ? यह सब झूठ है—निरा झूठ। तुम महज़ मेरा मन खट्टा करने के लिए यह सब कह रहे हो।" मैंने एक आवेश में कह डाला। पर बरोरा नाराज़ नहीं हुआ, बल्कि एक अजीब सी दुखपूर्ण हँसी हँस कर कहने लगा—

"सो तो अब भी कहता हूँ, भाई ! कुछ अजीब है ही यह लड़की। घर छोड़ कर उनके साथ भाग आयी थी। मैं तो स्वयं देख चुका हूँ न इन्हीं आँखों से। इसलिए कहता हूँ। हर तरह उनकी सेवा करती थी। उनके दोस्तों को इण्टरटेन करती थी। उसी सिलसिले में तो मुझसे इसका परिचय हुआ और जब मुझे वह सब अच्छा नहीं लगा,

तो मैंने इसे बताया कि स्त्री की आस्था एक ही पुरुष में होनी चाहिए। बेचारी पागल हो गयी इस एक बात पर। रात-दिन इसी एक आस्था में जीती-मरती थी। उसने सब-कुछ छोड़ दिया। उसका खयाल भी इसे पागल बना देता है—डरावनी, खूँख्वार, जैसे अभी-अभी प्राण त्याग देगी। पर...उफ़!" बरोरा जैसे झुँझला उठा हो। उसकी बरौनियों पर बल पड़ गये और होंठ एक-दूसरे से सट गये।

मैंने उसे देखा, तो भय हुआ। फिर ध्यान से देखा, तो जैसे घृणा की गहरी वेदना से मेरा मन तिलमिला उठा। जी में आया, शान्ता को अभी ढूँढ़ निकालूँ और पूछूँ, "तुम्हारे यही सब करम हैं?" मैं उठ खड़ा हुआ। बरोरा ने कहा, "जा रहे हो—जाओ! पर सुनो, एक बात याद रखना, कभी बरोरा और शान्ता की मित्रता की बात भी मत सोचना और शान्ता से पूछना तो तुम्हारे लिए ज़हर साबित हो जाएगा। वह अपने विश्वास की राह में पहाड़ को भी समतल मैदान मानती है। अब बरोरा अपने सारे पौरुष के बावजूद भी उसके लिए एक मच्छर से ज्यादा नहीं। और यह नर्सरी स्कूल की नौकरी? मैंने स्वयं ही काँटा बोया है अपनी राह में।" और वह माथे पर हाथ रख कर बैठ गया।

मैं वहाँ से उठा, तो सीधे डाक्टर के पास गया। वहाँ शान्ता मिली। बड़ी देर से मेरा इन्तज़ार कर रही थी। कहने लगी, "कहाँ रह गये आप?" और उठ खड़ी हुई। फिर मुझे रिपोर्ट देते हुए, पत्नी को शीघ्र भुवाली भेज देने की बात पर डाक्टर की राय बताने लगी—"केस बहुत बिगड़ गया है, भुवाली के सिवाय कोई आशा नहीं। बस महीने-दो-महीने की बात बच रही है। हार्ट तो कभी भी फेल कर सकता है।"

हम दोनों धीरे-धीरे सड़क पर चले जा रहे थे, तब तक बरोरा फिर सामने पड़ गया। मिस शान्ता ने रास्ता नहीं बचाया, रुकी भी नहीं, हिचकी भी नहीं और मुझसे बातें करती चलती रही। फिर मुझे रुकने

को कह कर वह एक दूकान में घुस गयी और कई बिस्कुट के डिब्बे, दवा की शीशियाँ तथा एक छोटी मच्छरदानी ले कर निकली और मुझे देते हुए कहने लगी, 'खंजन ने बताया, वह वैसे ही सोती है, आज से उसका ठीक से इन्तजाम कर दीजिएगा। मच्छर लगते हैं—मलेरिया का बड़ा डर है। थोड़ा सँभालिएगा।"

मैं दवा सँभाल ही रहा था कि उसने रिक्शा बुला कर अपने जाने की सूचना दे दी। मैं डर गया। कौन जाने, बरोरा नशे में उधर जाए? इसलिए मैंने उसे रोक कर कहा, "मैं भी साथ चलूँ, तो कोई हर्ज है?"

"नहीं, नहीं, कोई ऐसी बात तो नहीं, पर आप सीधे घर जाएँ, तो अच्छा है। मैं चली जाऊँगी।"

"रात तो ज्यादा......" मेरे मुँह से निकला ही था कि उसने बात छीन ली, कोई ऐसा डर नहीं, आप निश्चिन्त रहें।"

मैं लौट कर घर पहुँचा, तो बरोरा की वहशी आँखें मुझे बार-बार घूरती नज़र आने लगीं। रात को देर तक नींद नहीं आयी और काफ़े वाली बातें दिमाग़ में घूमती रहीं।

इसके बाद प्राय: शान्ता मिलती रही, लेकिन बातचीत में केवल हाल-चाल और तीमारदारी की शिक्षाएँ ही देती गयी। उसका मुख्य काम खंजन से ही रहने लगा। स्कूल की बस से ही अब वह नर्सरी जाती और लौटते हुए मेरे घर पर ही रुक जाती। केवल इसलिए कि खंजन सड़क से घर तक अकेली कैसे जाएगी और घर पहुँचने पर उसे नाश्ता कौन देगा, कपड़े कौन बदलेगा? प्राय: हफ़्तों मुझसे उसकी मुलाक़ात भी नहीं होती, न वह इच्छा ही प्रकट करती, न शिकायत ही करती।

खंजन भी जैसे हम लोगों की परवाह न करती। उसकी नन्हीं-सी दुनियाँ में रोज़बरोज़ एक नया खिलौना, नया आकर्षण देखा जाता। कपड़ा-लत्ता, खाना-पीना, सब जैसे आसमान से आ कर

उसके पास गिर जाता हो। मैंने एक-आध दिन खंजन से बातें करनी चाही, तो बस "मदर ने यह कहा है, मदर ने वह कहा है," इसके अलावा और कुछ नहीं।

मिस शान्ता से मैंने एक-आध बार कहा, "यह सब आप क्या कर रही हैं? नाहक कष्ट उठाती हैं। तो वह कुछ नहीं बोली। हाँ, दुखी बहुत हो गयी। मुझे संकोच हुआ, शायद मेरी इस बात से मेरे पिता होने का एहसास तो उसे छू नहीं गया; क्योंकि उसने जब भी मुझसे बातें की, खंजन को उससे अलग रखा, जैसे वह कोई ऐसा स्थल हो, जिसे छूते ही तेज़ दर्द होने की सम्भावना है।

एक दिन सुबह मैं सो कर उठा ही था कि बाहर बरामदे में शान्ता और खंजन की फुसफुसाहट सुन पड़ी। खंजन कह रही थी, "मदर, तुम तो बड़ी मदर हो कर मसूरी जा रही हो, मुझे भी ले चलोगी?"

फिर शान्ता ने जैसे बड़े रूठने के स्वर में कहा, "तेरा बाप ले भी जाने देगा, बेटी? मैं यहीं रहूँगी। कोई नौकरी के लिए अपनी बेटी को छोड़ता है! चल; जल्दी कर, दूध ठंडा हो रहा होगा।"

मैं अचम्भे में पड़ गया, कैसी पागल औरत है! मुझसे तो बता देती। मैं बिस्तर से उठ खड़ा हुआ और धीरे-धीरे चौके की ओर गया, तो शान्ता दूध का गिलास और अण्डे ले कर पत्नी को देने जा रही थी। मैंने रोका, तो खड़ी हो गयी। देखा तो जैसे वह बड़ी उदास-सी लग रही थी। कुछ ही दिनों में कहाँ-की-कहाँ पहुँच गयी है यह, जैसे कई बच्चों की माँ हो।

"आप कहीं बाहर जा रही हैं?" मैंने पूछा।

"नहीं तो, किसने बता दिया आपसे?" और कमरे की ओर बढ़ गयी। मैं उसे देखता-देखता कमरे में चला गया। पत्नी को आज बुख़ार तेज़ था। शान्ता ने टेम्परेचर लिया और मुझे फौरन डाक्टर के पास जा, उसे ले आने को कह कर, खंजन को ले कर वह स्कूल चली गयी। मैं दौड़ा, डाक्टर के पास चला गया; पर अब डाक्टर

बेकार था। उसी दिन दोपहर के एक बजे के लगभग उसकी साँस बंद हो गयी। मेरे लिए जैसे चारों ओर अंधकार छा गया। कई दिनों तक जैसे मुझे पता ही नहीं चला कि मैं कहाँ हूँ। हाँ, इतना ज़रूर था कि शान्ता ने मेरे घर तार दे कर माँ, बड़े भाई और भाभी को बुला दिया था। शान्ता रोज़ उसी तरह आती थी, पर घर में घुसते जैसे उसे संकोच होता हो। दरवाज़े से ही खंजन को आवाज़ देती और खंजन जैसे कुछ दुखी-सी दौड़कर उससे चिपक जाती और भाई की बच्चियों की एक बोझ शिकायत शान्ता से कह डालती।

एक दिन भाभी ने खंजन की चर्चा करते हुए मुझसे कहा, "अब तुम्हें भी घर ही चल कर रहना होगा। यह खंजन भी बड़ी बिगड़ती जा रही है। घर के प्राणियों में जैसे उसकी साँस फूलती है। रात-दिन उसी मास्टरनी की रट लगाए रहती है। तुमने तो इसे बिगाड़ ही दिया है!"

मैं उन्हें क्या समझाता, पर मेरा तो यहाँ रहना किसी भी तरह सम्भव नहीं था। खंजन की पढ़ाई की बात ज़रूर थी, सो वहाँ भी तो हो सकती है। मैं सोचने लगा कि शान्ता से बता तो देना ही चाहिए। मैं सोच ही रहा था कि बस की आवाज़ हुई और शान्ता खंजन की अँगुलियाँ पकड़े दरवाज़े पर आ कर खड़ी हुई। मैं उठ कर गया, तो कहने लगी, "जरा सुनिएगा तो।" मैं बाहर निकल गया। जैसे वह कुछ भूल गयी हो और उसका खयाल कर रही हो। कहने लगी, "खजन बहुत डरती है, न जाने क्या हो गया है, बड़ी उदास रहती है। बच्चों की बात-बात पर रोती है। कोई कुछ कहता तो नहीं इसे? और हाँ, कल रात तो मुझे बड़ा डर लगा। मैंने रात स्वप्न देखा कि यह बहुत बीमार है और इसे कोई उठाए जा रहा है। मैं चौक कर उठ बैठी और चपरासी को ले कर यहाँ तक आयी, पर आप सब लोग सो रहे थे, किसको जगाती? फिर लौट गयी।" शान्ता की बरौनियाँ भय के आँसू से भींग गयी थीं।

मेरी समझ में नहीं आया कि मैं क्या कहूँ पर उससे कहना तो था ही। आख़िर कल ही नौ बजे तो जाना है मुझे यहाँ से। "हम लोग तो कल जा रहे हैं।" मैंने धीरे से कहा।

"खंजन भी?" शान्ता पर जैसे बिजली गिर गयी। फिर जैसे उसे किसी ग़लती का अनुमान हुआ हो, उसने अपने को सँभालते हुए कहा, "किस गाड़ी से?"

"नौ बजे सुबह।" मैंने जवाब दिया, "पर खबर देती रहिएगा।"

"ज़रूर, ज़रूर!" उसने बड़ी थकी आवाज़ में उत्तर दिया। मैंने देखा, तो पहली शाम वाली मुलाक़ात की रुआसी आँखें, स्थिर, निर्विकार चेहरा और मोहहीन तन्द्रा के सारे लक्षण जैसे साकार हो उठे हैं—वही उदासी, वही स्थितप्रज्ञता, जैसे मेरी पहचान जाग उठी। मैं कुछ कहता, पर उसने मौक़ा न दिया। घर की ओर लौटती हुई वह खंजन के फ्राक, स्कर्ट और चड्डियों का कलर-कम्बिनेशन समझाती रही, "सुबह गर्म पानी से नहला कर कपड़े बदल दीजिएगा और फिर नाश्ते में बिस्कुट और मक्खन देना मत भूलिएगा! उसके खिलौने टूटने न पाएँ, खास कर वह स्प्रिंगमोटर तो उसकी जान है। देखिए, लड़कों से झगड़ने न पाए, वर्ना आदत बिगड़ जाएगी और किसी ने मार-पीट दिया, तो अलग परेशानी होगी। हाँ, उसकी आँखें कुछ मैली हो रही हैं। मैंने लोशन का डिब्बा रख दिया है, उसे अपने ही हाथ से डालिएगा!..." फिर वह जैसे कुछ रुकी। मैंने उसकी ओर देखा, तो मुझे कुछ दिखाई नहीं पड़ा। पर फिर सुना, कह रही थी, "और हाँ, शायद वह मुझे याद करे, पूछे, रोए, तो देखिए, रोने न दीजिएगा; वरना आँखों पर बुरा असर पड़ेगा, कहीं और कुछ न हो जाए, किसी भी तरह बहलाइएगा, किसी..."

फिर वह दीख नहीं पड़ी, जैसे आँसुओं के पर्दे में छिप गयी हो। मैंने इधर-उधर देखा, कहीं कुछ नहीं। वह चली गयी थी, पर मैं सोचने लगा, "कुछ मेरी भी तो सुन लेती, शान्ता!"

महुए का पेड़

दुखना को गाँव में कोई नहीं छेड़ता। वैसे तो शायद ही कोई ऐसा असहाय बूढ़ा होगा, जिसके लिए गाँव के बच्चों के पास चिढ़ाने का मसाला न हो। बूढ़े चौथी को करमठोन और नाथू को करैला कह देना ही गालियों की बौछार का कारण बन जाता है। फिर क्या, गाँव के बड़े-सयाने भी इसमें मज़ा लेने लगते हैं और एक बेपैसे का तमाशा गाँव की ज़िन्दगी में थोड़ी हँसी का वातावरण पैदा कर देता है। गाँगी को शोभा पंडित का बुलावा देना, एक असाधारण खेल को बुलावा देना है। गालियों की बौछार से ले कर, ईंट-पत्थर और बटोर-पंचाइत की नौबत तो आ ही जाती है। पर दुखना के साथ यह बात नहीं है। बच्चे, 'दुखना आजी', औरतें, 'मइया' और सयाने, 'दुखना चाची' कह कर ही उसे पुकारते हैं।

दुखना के पास एक लिपी-पुती, साफ़-सुथरी झोपड़ी, दो-एक बरतन, मिट्टी की गगरी और झोपड़ी के सामने, हहरता हुआ एक महुए का पेड़ है। यही उसकी कुल सम्पत्ति है। महुए के पेड़ से उसका बड़ा निकट सम्बन्ध है। उसे दुखना ने अपने हाथ से लगाया है, सींचा है और देख-रेख कर इतना बड़ा किया है। अब उसकी उम्र पचास वर्ष की हो रही है। दुखना कभी उसे अपना बच्चा समझती थी पर अब उसके विशाल पौरुष की छाया के नीचे, अपने को रक्षित समझती है। क्या मजाल है कि कोई एक टहनी भी उसमें से तोड़ ले। चाहे वह जमींदार का ऊँट हो, चाहे मौला का हाथी, दुखना के जीते जी, उस महुए की छाया दोनों के लिए वर्जित है।

इस महुए के फूल क्या होते हैं जैसे मिश्री के दानें। गाँव के लोग उसे मिसिरिहवा कहते हैं। नन्हे-नन्हें मधूक के उजले फूलों में वैसे ही मोती की आभा होती है, पर इसकी सफ़ाई और छोटाई से तो जैसे मोती भी मात हो। दुखना इस विशाल पेड़ की सारी छाया को गोबर से लीप डालती है और रात-दिन, बाँस का एक छोटा-सा डंडा ले कर इसकी रखवाली करती है।—कहीं कोई जानवर आ कर कुचल तो नहीं देगा।—कहीं बाग़ में महुआ बीनने जाने वाले चुलबुले बच्चे, अपनी मउनियाँ ले कर, इसी के नीचे तो नहीं झुक जाएँगे। दुखना को इसकी चिन्ता सदा बनी रहती।

रात को जब उजली, धुली चाँदनी की चादर, धरती पर फैल जाती और उस विशाल महुए की नंगी-नंगी डालें और उनमें से निकली हुई नन्हीं-नन्हीं, बिना पत्ते की टहनियों के झोपों से एक-एक फूल टपकता, तो दुखना को लगता, जैसे रेशम की पतली धारियो से स्वर्ग के दूत, उसके आगे मोतियों की वर्षा कर रहे हों। वह एक टक, बहुत ही प्यासी आँखों से देखती-देखती, देर तक अपनी मड़ई के आगे बैठी रहती।

कई साल से दुखना के मन में तीर्थ-यात्रा की बड़ी लालसा है। अगल-बगल की पड़ोसिनें कई बार गंगा-स्नान कर आयीं। मलमास नहा डाला, गरहन में पैदल चल कर काशी का पुण्य लूट आयीं पर दुखना कहीं न जा सकी। लेकिन पिछले महीने, जब से हरखू की माँ प्रयागराज से खोपड़ी के बाल साफ़ करा और गले में तुलसी की मनियाँ पहन कर लौटी है, तबसे दुखना के पास उसकी आव-भगत बढ़ गयी है। वह हर रोज़ एक न एक बात उठा ही देती है।

"मइया! तिरबेनी का दरसन करके ही जैसे पाप भाग जाता है। वहाँ किसिम-किसिम के लोग, दूर-दूर से पैदल चल कर आते हैं। सच मानो मइया! कितनों के तो पाँव तक कट जाते हैं। लेकिन ईश्वर

की महिमा है कि संगम में गोता लगाते ही अतमा पवित्तर हो जाती है। नहीं तो मेरे पाँव में इतना जोर कहाँ ? यह तो ईश्वर की ही माया समझो, जो बुढ़ाई समों में दरसन हो गये।"

"यह सब बड़े भाग से होता है हरखू की माई ! तुम्हें भगवान ने लड़के-बच्चे दिये हैं। घर-दुवार देखने वाले हैं। तुम आ-जा सकती हो। मैं तो इस मड़इया को छोड़ कर चली जाऊँ तो इस महुए में एक डाल भी न रह जाए। दुखना की आँखों में संतोष की एक गहराई उभर आयी। फिर उसने एकाएक हरखू की माँ की ओर देखा तो वह कहती जा रही थी।

"कब तक इसे थाम कर बैठी रहोगी मैया ! दो दिन की जिन्दगी में तीरथ-बरत न कर लोगी तो आगे क्या होगा। दुनियाँ में किसी के पास पेड़-पालो नहीं हैं क्या ? कोई उन्हें रात-दिन अगोर कर बैठा थोड़े ही रहता है !"

दुखना तिलमिला उठी। दोनों हाथों को ज़मीन पर टेकते हुए, दीवार से सट कर, बैठ कर कहने लगी, "हरखू की माँ ! यह सब तो ठीक कहती हो लेकिन तुम जानती नहीं, इस दुनियाँ में कमजोर का ठिकाना नहीं। जमीन ठाकुर की हैं, पेड़ मेरा है। अब उसकी बखरी बन रही है, लकड़ी की कमी है, कहता है, 'इसे दे दो, तो बड़ा काम हो जाए।"

"तो दे क्यों नहीं देती", हरखू की माँ ने बात बीच ही में छीन ली। "उससे रुपये ले कर तीरथ पर निकल जाओ ! आखिर तुम्हारे मरने के बाद, पेड़ उसी का तो हो जाएगा।"

दुखना को जैसे किसी बिच्छू ने डंक मार दिया हो। अपने दोनों हाथों से उसने माथा थाम लिया। पिछली घटनाओं का क्रम, जैसे उसकी आँखों में नाच उठा।

कोई पच्चीस बरस बीते होंगे, जब दुखना का पति जीवित था। दस बीघे का काश्तकार था; वह। जेठ की तड़पती धूप में, ईख की सिंचाई हो रही थी। बड़ी मुश्किल से कुएँ पर बारी आयी थी।

वह रात-दिन उसी कुएँ पर रह जाता, दुखना खाना-पानी ले कर वहीं जाती और देर तक बैठी रहती। पर वह कहता, "तू क्या यहाँ सती हो रही है। मैं तो अभी जीता ही हूँ, घर चल! आज सिंचाई खतम करके लौटता हूँ।"

दुखना घर पर पहुँची भी न होगी, कि वह पुरवट हाँकते-हाँकते बेहोश हो गया। लोग उठा-पुठा कर घर लाये, दुखना देखते ही चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगी। उसके रूखे, खुरदरे हाथों में अपना मुँह रगड़ती रही पर वह होश में नहीं आया। बड़ा, तेज़ बुखार, जैसे सारा शरीर जल रहा हो। दुखना ने बड़ी दौड़-धूप की। लोगों के सामने हाथ फैलाया, गिड़गिड़ायी पर कोई काम न आया। अंत में वह हमेशा के लिए चल बसा। और दूसरे दिन ही ठाकुर ने बेदखली का हुकुमनामा भेज दिया। दुखना ने एकाएक होश सँभाला। आँखों पर से हाथ हटाया, तो हरखू की माँ अभी भी बैठी थीं। उसने पूछा—"क्या सोच रही हो मइया! अब माया-मोह छोड़ो, इस गर्मी में चली जाओ काशी। मलमास पड़ रहा है।"

"माया-मोह काहे का हरखू की माँ, तुम जानती नहीं। यह जो सामने का खेत है न! यह मेरा ही था। बाग में पचासों पेड़ थे। पर सब इस ठाकुर ने ले लिया। यह तो चाहता ही है कि, मैं जल्दी से मर जाऊँ, तो वह इतनी जमीन और यह पेड़ और पा ले।"

"तो कहीं दूसरी जगह से कुछ पैसे का इन्तजाम कर लो, चलो, मैं भी चलूँगी। दोनों जने नहा आवें।" हरखू की माँ कह ही रही थी तब तक दुखना चिल्ला उठी, "दाढ़ीज़ार की आँख फूट गयी है

क्या, कि फूले महुए में ऊँट लगा दिया है।" हरखू को माँ भी उठ खड़ी हुईं। देखा तो ठाकुर का उटहारा, अपनी लग्गी से जल्दी-जल्दी महुए की पत्तियाँ छिनगाता और हँसता जा रहा है। दुखना गालियाँ देती, अपना बाँस का डंडा, उठा कर, ऊँट की तरफ़ दौड़ पड़ी और जल्दी-जल्दी उस पर डंडे चलाने लगी पर ऊँट टस-से मस नहीं हुआ और डालियाँ उचार-उचार कर, खाता रहा। उटहारा हँस कर कहता जा रहा था। "दुखना! तुम्हारे महुए की पत्तियाँ बड़ी मीठी होती हैं।" और जल्दी-जल्दी लग्गी से डालें काट कर गिराता जा रहा था। जब दुखना का बुढ़ापे से शिथिल शरीर, हाथ चलाते-चलाते थक गया तो उसने एक डंडा उटहारे के ऊपर चला दिया। वह भी गालियाँ बकने लगा। और बूढ़ी को झटका दे दिया। दुखना उसी पेड़ के नीचे गिर पड़ी और कलप-कलप कर रोने लगी। हरखू की माँ ने उसे किसी-किसी तरह उठाया। गाँव के बहुत से लोग इकट्ठे हो गये।

"इस बूढ़ी के सिर पर तो पाप सवार रहता है। इस महुए को छाती पर लाद कर, सरग जाएगी क्या?"

किसी ने कहा "महुए की पत्ती इसके लिए सोना है, सोना। अरे भाई! ऊँट ने मुँह डाल ही दिया, तो क्या हुआ। उस पर डंडा चलाने का क्या काम था?"

हरखू की माँ ने बीच-बचाव किया। "बूढ़ी है, जब उसे नहीं अच्छा लगता, तो जान-बूझ कर लोग क्यों बेचारी को परेशान करते हैं। दो दिन की मेहमान है, न जाने कब चल बसे। इस तरह उस पर हाथ उठाना कोई अच्छा काम थोड़े ही है।"

सब लोगों को यह बात अच्छी लगी, पर ठाकुर का लड़का भी

वहीं खड़ा था, कहने लगा, "बूढ़ी है तो क्या हुआ, गाँव में किसी को रहने नहीं देगी ? तू बड़ी भगतिन बनी है मूँड़ मुड़ाकर।"

कुछ लोगों ने उसे डाँटा और भीड़ छट गयी।

दुखना उस दिन, रात भर रोती रही। उसकी नन्हीं सी मड़इया में दीया-बत्ती भी नहीं जली। वह सोचती—एक दिन वह ऐसे ही मर जाएगी और उसका घर-दुवार सब ढहा दिया जाएगा। उसका महुआ काट कर, गिरा दिया जाएगा। फिर कौन इसकी एक-एक पत्ती की देख-रेख करेगा ? क्या वह इसे बचाने के लिए, हमेशा जीवित रहेगी और लोगों की गालियाँ सहती रहेगी ? वह अपने नन्हें से खटोले पर से उठ खड़ी हुई और दीवार के सहारे धीरे-धीरे डोल कर बाहर आयी तो अभी सबेरा नहीं हुआ था, पर धोबियों के मुर्ग़े बोलने लगे थे। कहीं-कहीं बैलों की घंटियाँ टुन-टुन करने लगी थीं। उसने बड़ी प्यासी आँखों से उस महुए को देखा। उसकी पीली पत्तियाँ हवा के झोंकों के साथ खड़खड़ करके झर रही थीं। वह डोलती-डोलती उस जगह पर पहुँची जहाँ ऊँटहारे ने उसकी डालियाँ काट कर गिरायी थीं। उसने एक-एक को बटोरा। और अपनी झोपड़ी के सामने रख कर, उन्हें देखने लगी। फिर एकाएक उसके दिमाग़ में आया—आखिर कब तक वह जीएगी, इस सब के लिए ! और उसने उलट कर उस पेड़ की तरफ़ देखा-—हवा का एक झोंका आया, पत्तियाँ खड़ाखड़ा कर झर पड़ीं और पेड़ नीचे से ऊपर तक हहर उठा। वह एक टक उसके विशाल तने को देखने लगी।

इस साल उसमें खूब फल आएँगे। वह सब बेच देगी और उसी रुपये को ले कर तीर्थ पर चली जाएगी। लेकिन तब तक तो मलमास बीत जाएगा। उसे ख़याल आया, इसी बीच वह अपने रिश्तेदार के यहाँ से रुपये लेकर नहा आवे। आने पर महुए को बेच कर, उसे

रुपये दे देगी। उसने झोपड़ी में घुस कर, अपनी धोती उठायी और चल पड़ी।

चैत का महीना था। सुबह की पागल हवा से उसके मन में लालसा ज़ोर पकड़ने लगी। कहीं-कहीं लोगों के खाँसने की आवाज़ सुनाई पड़ने लगी थी। दुखना के पावों में कुछ स्फूर्त्ति आ गयी। वह जल्दी-जल्दी आगे बढ़ती गयी और भोरहरिया की बेला में ही लोगों की आँख बचा-बचा कर, वह गाँव के पार चली गयी।

जब धूप बहुत चढ़ आयी, तो लोगो ने दुखना की खोज की। पूछ-पाछ हुई, पर कहीं पता नहीं चला। हरखू की माँ को कुछ अंदाज़ था। उसने मन में सोचा, शायद बूढ़ी ऊब कर, तीर्थ के ही लिए निकल गयी है, पर गाँव के लोग बड़े घबराए थे। कोई कहता था, "किसी कुएँ में गिर पड़ी होगी।" तो कोई कहता, "कहीं चली गयी।" पर जब तीन दिन बीत गये, तो हरखू की माँ की बात तय मान ली गयी और ठाकुर के जी-में-जी आया। उन्होंने सम्पत्ति पर जल्दी ही कब्जा कर लेना उचित समझा, क्योंकि देर होना, इसमें ठीक नहीं और लुहारों के टाँगे महुए की जड़ पर चलने लगे। पूरे दिन लग गये, पर तना कट न सका आखिर रोशनी जला कर, रात भर काम होता रहा और भोर में पेड़ भीषण करकराहट की आवाज़ के साथ दुखना की झोपड़ी पर जा गिरा। दीवारें और फूस की छत भी साथ ही ध्वस्त हो गयीं। दुखना की मिट्टी की गगरी और छोटी-सी चारपाई भी टूट कर चूर हो गयी।

गाँव के बच्चों ने डालों पर झूलना शुरूऔर कर दिया औरतो ने टहनियों को ईंधन के लिए तोड़ना। बकरी और ऊँटों की भी बन आयी। एक बड़ा-सा जमघट. जिसमें जानवर भी थे और आदमी

भी, उसके इर्द-गिर्द इकट्ठा हो गया। कोई दुखी नहीं था, हरखू की माई के अलावा।

उसी दिन दोपहर को अपनी लकड़ी के सहारे, लुढ़कती आती दुखना को देख कर लोगों को भूत का-सा भय हुआ। कोई सामने न पड़ा। ठाकुर घर में घुसे तो बाहर नहीं आये। लड़के घर के दरवाज़ों से झाँक कर, डरे-डरे सिमटे रहे। हरखू की माई जमींदार को कोसती-कोसती पहुँची पर दुखना ने उनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया। वह महुए के तने के पास चली गयी, खून-सी लाल तने की लकड़ी को हाथ से छुआ, झोपड़ी की दीवारों को देखा, और घूम कर हरखू की माई से कहने लगी—

"हरखू की माँ, चलती हो तीरथ को? मैं तो चली।"

मन के मोड़

रात को रामशरण देर से घर लौटा। द्रौपदी चौके में मन मारे बैठी थी। पास दीवट पर जलते चिराग़ की लौ गुल से भारी हो रही थी और चूल्हे में लकड़ी सुलग-सुलग कर बुझने के क़रीब पहुँच चुकी थी। कुछ जूठे बरतन, पिसान की थाल और दाल-भात की बटलोइयाँ शरारती बच्चों के खिलौने की तरह, इधर-उधर पड़ी हुई थीं।

रामशरण को कुछ आशंका हुई, इधर-उधर देखा। कहीं कोई आहट नहीं। जीत के कमरे में भी रोशनी न थी और द्रौपदी—वह तो ऐसे कभी न बैठती थी, मेरे आते ही खाने-पीने के इन्तजाम में जुट जाती थी। उसने हाथ की लाठी दीवार से टिकायी, कंधे की चादर डारे पर टाँगी और दीवार के पास खड़ी चारपाई को बिछा कर बैठ गया। फिर भी द्रौपदी कुछ नहीं बोली। उसने समझा, ज़रूर कुछ गड़बड़ी हो गयी है। वह उठा और पूरबवाले घर में गया। अँधेरे में उसने हाथ से चारपाई टटोली, जीतू वहाँ नहीं था। उसने वहीं से आवाज़ दे कर कुछ विस्मय-भरे स्वर में पूछा, "जीतू अभी कबड्डी खेल कर नहीं लौटा क्या? खूब बना रखा है लाडले को तू ने! पढ़ाई-लिखाई गयी, अब घर-द्वार भी छोड़ बैठे हैं लाला!"

द्रौपदी कुछ नहीं बोली। उसने बुझती हुई लुकाठी उठायी और चिमटे से ठोक-ठाक कर उसे चूल्हे में लगा दिया। फिर दाल की बटलोई पिछले चूल्हे पर रख कर, सँड़सी से पकड़ कर तवे को उठाने लगी, तो वह सरक कर गिर पड़ा और थाली की बारी से लग जाने के कारण ज़ोर से झनझनाहट हुई।

रामशरण को गुस्सा-सा आ गया। बोला, "सुनती हो, मैं कुछ पूछ रहा हूँ!"

पर द्रौपदी ने कोई जवाब नहीं दिया।

आखिर परेशान हो कर, रामशरण चौके के पास चला गया। झुँझला कर बोला, "किसानों के इतने बड़े लड़के घर-गिरस्ती सँभालते है, खेत-खलिहान देखते हैं। खूब मनमाना सेश्रो मुर्गी के अंडे की तरह!"

द्रौपदी से नही रहा गया। उसने बड़े गुस्से में कहा, "इतनी रात बीते आये हो, तो झगड़ा ही करना है या खाना-पीना भी है! मैं कोई लौंडी-चेरी हूँ, जो बज्जर की तरह गिरस्ती का भार अपनी छाती पर ढोती रहूँ। गरीब के घर से आयी हूँ तो क्या हुआ, माँ-बाप ने गाली सुनने के लिए तो नहीं भेजा था। ऊपर से तुम्हारा यह तुर्रा, यह सब मेरे मान का नहीं, कल सबेरे मुझे भेजवा दो यहाँ से।"

रामशरण की समझ में कुछ बात आयी। एक हल्की-सी हँसी उसके चेहरे पर आने को हुई, पर परस्थिति की गम्भीरता सोच कर वह चुप रह गया। पास ही रखे गगरे से उसने पानी लिया, हाथ-मुँह धोया और पीढ़ा ले कर चौके में बैठ गया। द्रौपदी ने जल्दी-जल्दी कुछ अधजली, कुछ अधपकी रोटियाँ उसकी थाली में फेंकीं और जैसे ही रामशरण ने कहा, "अब बस करो!" वह चौका बढ़ा कर उठ खड़ी हुई।

अब रामशरण से न रहा गया। उसने कुछ हँसते हुए कहा, "आज उपवास होगा क्या? लगता है, जीतू बिना खाये चला गया है।"

"चला गया है तो मैं क्या करूँ! कहो तो सारे गाँव उसके पीछे नाचती फिरूँ। यह तो कहो, मेरी ऐसी बेहया है, जो सब-कुछ झेल कर

भी उसे घर में रखे हूँ, नहीं तो कब का वह घर छोड़ कर भाग गया होता और उसपर भी मुझी को...''कहते-कहते द्रौपदी का गला भर आया और आँखों से आँसू बहने लगे।

रामशरण ने कहा "क्या हुआ, कुछ बताओगी भी।"

द्रौपदी ने कोई उत्तर न दिया, जल्दी-जल्दी हाथ-मुँह धो कर अपने कमरे में चली गयी।

रामशरण के पिता तीन भाई थे। तीनों के एक-एक लड़का था। रामशरण सबसे बड़े भाई का, उम्र में सबसे बड़ा लड़का था, जीतू सबसे छोटे भाई का इकलौता। जीतू जब माँ के पेट में आया, तभी उसके बाप की मृत्यु हो गयी और जब जीतू तीन महीने का हुआ, तो उसकी माँ भी चल बसी। रामशरण के बाप ने जीतू को बड़े स्नेह से पाला था और मरते समय जीतू का हाथ रामशरण के हाथों में दे कर कहा था, "यह मेरा धरोहर है, बेटा! धन तो नहीं दे सका, पर एक परानी दे रहा हूँ। इसे अपने बेटे की तरह ही पालना।" रामशरण ने बाप की बात सिर-आँखों पर ले ली थी और उसकी पहली पत्नी ने भी जीतू को अपने जाये बेटे की तरह माना-जाना था। लेकिन जब उसकी पहली पत्नी भी जीतू का हाथ रामशरण के हाथों में सौंप कर और, "यह मेरी कोख ही का लाल है, इसे परान से भी ज्यादा समझना," कह कर चल बसी थी, तो रामशरण का धैर्य टूट गया था। उसे रात-दिन जीतू की चिन्ता सताया करती थी। पहले तो उसने यह तय कर लिया था कि वह अब शादी ही नहीं करेगा, कौन जाने कैसी बहू आये और जीतू से उसकी पटे, न पटे। पर जब डोभी के पटिहार दादा ने उस ग़रीब की दुर्दशा बतायी और लड़की के गुणों की बहुत प्रशंसा की, तो वह शादी पर राजी हो गया। फिर भी उसने पटिहार दादा से कह दिया था कि, "दादा, दूसरी शादी में जो होता है, वह सब मुझे मालूम है। मैं जीतू के कारण ही शादी नहीं कर

रहा था, इसका ध्यान जरूर कर लें, नहीं तो मुझे नरक में भी जगह नहीं मिलेगी।"

शादी के पहले रामशरण को एक और आपत्ति का सामाना करना पड़ा था। उसके मझले भाई ने अलगा-गुज़ारी करते समय नाबालिग़ जीतू के हिस्से का भी आधा चाहा था और रामशरण इस पर तैयार भी हो गया था कि चाहे जगह-जमीन सब ले लो, पर जीतू को मैं नहीं छोड़ सकता। अन्त में पंचायत ने जीतू का हिस्सा रामशरण ही के पास कर दिया था। पर गाँव में प्रायः यह बात उठती थी कि रामशरण ने अच्छा हिस्सा दबा लिया। बेचारे लड़के को बहका कर, कैसा बेवकूफ़ बनाये हुए है।

यह ज़रूर था कि द्रौपदी को ब्याह कर घर लाने के बाद, रामशरण का कलेजा काँप उठा था। जाने कैसे निभेगी इसकी जीतू के साथ! लेकिन पहले ही दिन की देखा-देखी के बाद, जीतू का द्रौपदी के पैर छूना और उसका जीतू को खींच अपने पास कर लेना, देख कर रामशरण का सीना खुशी से फूल उठा था, आँखें भर आयी थीं और पहली पत्नी की तसवीर उसकी आँखों में घूम गयी थी।

बहुत सबेरे जब धुँधलका नहीं फूटा होता, जब चिड़ियाँ अपने कोटरों में चूँ-चूँ करती होतीं—रोशनी के इन्तज़ार में या अपने नन्हों को प्रबोधने में, तो पूरब के घर से महीन, टूटता हुआ-सा स्वर कानों में पड़ता, जननी मैं न जियों बिनु राम...

रामशरण जैसे चौंक कर उठ खड़ा होता। तभी बाल्टी खट से बोलती और कोई जैसे बड़ी उतावली में कहता "कुछ काम-धाम का भी धियान रहता है या बस सोना-ही-सोना होगा रात-दिन। जानते हो, जीतू को सबेरे स्कूल जाना होता है। अभी दूध गरम भी तो करना होगा। कल निगोड़े मास्टर ने तनिक-सी देर होने पर

उसके कान उखाड़ लिए थे। शाम ही से उदास पड़ा था। पहले तो बोलता ही न था, पर मैंने देखा तो उसके कान लाल हो गये थे। रात भर हलका-हलका बुख़ार रहा। आज पूछूँगी निगोड़े से कि बच्चे का मुँह भी देखा है कि पीटना ही जानता है। मैं तो आज उसे स्कूल नहीं भेजूँगी। भाड़ में जाए ऐसी पढ़ाई। कौन यहाँ डिप्टी-दरोगा होना है। देह बनी रहेगी तो बहुत पढ़ाई हो जाएगी।"

द्रौपदी ने जीतू को समझने में ग़लती नहीं की थी, पर वह अभी ब्याह कर आयी थी, बार-बार उसकी आँखें भर आतीं और जीतू जैसे परेशान हो जाता। प्रायः वह पूछता "भैया ने कुछ कहा तो नहीं, भाभी ? मैंने तो कुछ नहीं किया, तुमने मुझे डाँटा भी तो नहीं, भाभी ! मैं खाना भी तो खा रहा हूँ। क्या बात है, भाभी ?" वह सवालों की झड़ी लगा देता और द्रौपदी उसके प्रेम में विभोर हो जाती।

"कुछ नहीं बबुआ, वह सुमित्रा है न, जिसे तुमने देखा था, बड़ी नटखट है। माँ को बड़ा परेशान करती है। मुझी से मानती थी, मुझी से खाती थी। जब मैं तुम्हें खिलाती हूँ, उसकी याद आ जाती है।" द्रौपदी बड़े स्नेह से कहती और जीतू का सिर अपनी गोद में खींच लेती। "कैसा सूखा-सूखा-सा चेहरा हो गया है। धूल-माटी में खेल कर तुमने क्या हालत बना ली है। चलो उबटन लगा दूँ।" और द्रौपदी उसे चटाई पर बैठा कर उबटन लगाने लगती। पर जीतू जैसे कुछ खो-सा जाता, उदास हो जाता, क्योंकि उसे लगता, जैसे भाभी के मन में कहीं दुःख है और वह पूछने लगता, "तो सुमित्रा को यहीं बुला न लो भाभी, क्या हर्ज है ? कहो तो मैं ही जा कर लाऊँ।"

"अभी नहीं, लाला। थोड़े और बड़े हो जाओ, तब दूल्हा बन कर जाना।" द्रौपदी ज़रा हँस कर कहतीं और जीतू शरमा जाता।

इधर जीतू की परेशानियाँ भी कुछ बढ़ती जा रही थीं। द्रौपदी

प्रायः दूध में रोटी डालते समय उसे धोखा दे जाती थी। "बस दो ही डाली है, तनिक-सी तो है, कल-कल के बच्चे आठ आठ रोटियाँ खा जाते हैं। आखिर देह में जोर कैसे आएगा।" और वह पाँच-छे रोटियाँ डाल कर जीतू को खिला देती।

देवराजबो द्रौपदी से मिलने आयी थीं। रामशरण बैठके में बैठा था। घर से निकली तो जैसे बहुत नाराज़, कुछ भुनभुनाती हुई चली गयीं। रामशरण को संदेह हुआ, पर उसने ध्यान न दिया। दूसरे ही दिन सुना तो आँगन की डरवाड़ के पास मझले भाई की बहू से वह कह रही थीं "बड़ी इतमानी बहू है, बहिनी! जैसे दूध-भात उसी के घर में तो है! अभी तो कल की आयी है। बंस न बरखा, दूसरे के बेटे पर इतना गुमान है, तो अपना होगा तो न जाने क्या करेगी।"

"क्यों होने ही लगा, मइया। भाई का हक मार कर कभी कोई फूला-फला है!" मझले भाई की पत्नी कह रही थीं।

रामशरण को बुरा लगा। उसे संदेह हुआ, कहीं द्रौपदी ने कुछ कहा तो नहीं उन्हें। और वह सीधे द्रौपदी के पास पहुँचा। वह जीतू के कुर्ते में बटन टाँक रही थी, पल्ला ज़रा खींच कर खड़ी हो गयी।

"यह सब मैं क्या सुन रहा हूँ, लोग कहते हैं, तुम ठीक व्यवहार नहीं करती।" रामशरण ने कुछ गुस्से में कहा।

"मैं बुरा व्यवहार करती हूँ? नहीं तो!" द्रौपदी को जैसे झटका लगा हो। उसने सुई चलाना बंद कर दिया।

"तब यह देवराजबो क्या कह रही थीं?

"अरे हाँ," द्रौपदी के सलज्ज चेहरे पर हँसी दौड़ गयी, कल वह आयी थीं, तो मैं जीतू को खिला रही थी। बारीवाली मैया ने बताया था कि बड़ी नजरही हैं वह, सो मैं जीतू को ले कर घर में चली गयी। एक फूल का ऊँची बारी का कटोरा न ला दो, उसमें खिलाते समय

कोई देख न सकेगा। कहीं नजर-वजर लग जाए तो वह भी एक झंझट।"

रामशरण कुछ न कह सका। चलने लगा, तो द्रौपदी ने पीछे से बुलाया "अरे सुनो तो!"

रामशरण खड़ा हो गया।

"जीतू के पास कोई कपड़ा नहीं है, मैंने अपनी वह चारखाने-वाली नयी धोती फाड़ कर दो कुर्ते बनवा लिए हैं। एक-दो धोतियाँ न ला दो!"

"अभी पैसों की बड़ी कमी है, इधर ब्याह-शादी में कुछ लग गया और लगान भी अभी बाकी है। फिर कपड़ों की ऐसी क्या जरूरत है, किसानों के घर में लड़के ऐसे ही रहते हैं।"

"नंगे जो घूमते हैं, घूमें! यह लो पाँच रुपये हैं मेरे पास, माँ ने तीज पर भेजे थे। इसी से मँगा दो।"

"रखो, रखो उसे, दो पैसे पास में रहेंगे तो काट थोड़े ही खाएँगे। अभी कपड़ों की जरूरत नहीं, जाड़ा-वाड़ा आएगा, तो देखा जाएगा।" कहता हुआ रामशरण चुपचाप चला गया।

इधर धीरे-धीरे जीतू के कड़े बालों में चिकनाई आने लगी। हाथ पैर में रोज उबटन, सिर में तेल, पैर में जूते, साफ़ धोती कुर्ता। जीतू जिधर से निकलता, गाँव में उसी की चर्चा रहती। कोई कहता, "रामशरण अच्छी बहू ब्याह लाया, भाई! अपनों का भी कौन इतना ध्यान रखता है, देखो न, किसका लड़का यहाँ ऐसे रहता है, बड़े-बड़े लोग तो अपने को बनते हैं, पर बच्चों के पैर में जूते तक नहीं जा पाते।"

कोई मन गिरा कर कहता, "अरे भाई, मंदिर के पुजारी की लड़की है, जिन्दगी भर यही सब तो किया-दिया है। क्यों न ज्ञान

बघारे लोगों के ऊपर। कहीं किसानों के बच्चे इस तरह रहते हैं! देखना, शोहदा हो जाएगा, शोहदा!"

जीतू के कानों में यह बात पड़ती तो वह शर्मिन्दा हो जाता। इसलिए इधर जब द्रौपदी उसे कपड़े-लत्ते पहना कर, बाल काढ़ने लगती, तो वह कुछ जल्दी-जल्दी में उससे दूर होना चाहता और घर से बाहर होते ही अपने बालों को बिगाड़ लेता। लेकिन इतने पर भी स्कूल में लड़के उसे गंदी-गंदी बातें कह कर चिढ़ाते और उसके बालों में धूल और कपड़ों पर स्याही डाल देते। जीतू बिगड़ता, तो लड़के उसे तरह-तरह से परेशान करते। कभी कोई चिढ़ाता, तो कभी सब मिल कर उससे बोलना ही बन्द कर देते। स्कूल के रास्ते पर वह अकेले ही चलता, कोई लड़का उससे बोलना पसन्द न करता।

पड़ोसी का लड़का चन्दर बड़ा बदमाश था और जीतू से बहुत जलता था। उसने लड़कों मे राय की कि जीतू को बहका कर कबड्डी खेलवायी जाए, वह भी नथुआ के ढेलेवाले खेत में। जब वह दाव देने आए तो पकड़ कर खूब रौंद दिया जाए। जीतू बच्चों के साथ खेलने को उत्सुक रहता था। यदि कोई उससे प्रेम से बोल देता, तो उसके पीछे लग जाता। इधर दो दिनों मे चंदर जीतू के पीछे पड़ा रहता। द्रौपदी ने रामशरण की चारी जीतू के लिए दो धोतियाँ मंगवा ली थीं। जीतू को उसने धोती, चारखानेवाली डोरिया का कुर्ता पहना दिया था, जूते साफ़ कर दिये थे, बालों में तेल डाल दिया था। जैसे ही द्रौपदी जीतू को ले कर बाहर छोड़ने आयी, चन्दर दीख गया। चन्दर उसे एक आँख न भाता। उसने जीतू को रोक लिया। कुछ देर बाद उसे घर के बाहर छोड़ा, तो दरवाज़े पर खड़ी देखती रही। जब जीतू आँख से ओझल हो गया, तो वह घर में लौटी।

रामशरण मुक़दमे के काम से कचेहरी गया था। द्रौपदी एक पुरानी धोती जीतू की लगदी पर चढ़ाने लगी, पर उसका मन नहीं

लग रहा था। एक बार सोचा, खाना बना ले, पर फिर पति के न रहने से उसका जी नहीं हुआ। उसने आँगन की धूप देखी, दिन चढ़ता जा रहा था। दीवार का वह निशान अभी दूर था, जब जीतू स्कूल से लौटता। उसने सोचा, कुछ पहले ही खाना बना लूँगी तो दोनों साथ ही खा लेंगे। तब तक ओ भी तो आ जाएँगे।

आखिर लगभग दो बजे, उसने आग जलायी और जीतू के घर लौटनेवाले धूप के निशान के पहले ही उसने खाना बना लिया। जीतू प्याज की पकौड़ा और कोई मीठी चीज़ खाना पसंद करता है। घर में गुड़ नहीं था। उसने कई गगरियों में हाथ डाला, कुछ न मिला, तो किसी से दूकान से गुड़ मँगवाया। गुलगुले भी बन कर तैयार हो गये। पर जीतू नहीं लौटा। पहले तो उसे चिन्ता नहीं हुई, पर जब दिन ज़्यादा ऊपर चढ़ गया, तो वह बेचैन हो उठी। बार-बार घर के बाहर जाती, लौटती। सामने चन्दर अपनी गायें चरा रहा था, पर उसे वह बुलाना नहीं चाहती थी। और भी बच्चे तो स्कूल से आये होंगे। उसने बारी-वाली मैया के बेटे को बुलवा भेजा। उसने बताया कि जीतू आज स्कूल नही गया था।

"स्कूल नहीं गया था!" जैसे द्रोपदी के ऊपर बज्र गिर पड़ा। बोली, "स्कूल नहीं गया था, तुम जानते हो? तुमने नहीं देखा उसे, ठीक कहते हो?" द्रोपदी के माथे की नसें फूल आयीं। वह घर से निकल पड़ी। सामने ही चन्दर था। उसने पूछा, "तुमने जीतू को कहीं देखा?"

"नहीं तो, मैं क्या जानूँ उसे।" चन्दर ने झटके से उत्तर दिया और अपनी गाय हाँक कर आगे बढ़ गया।

कई लोगों ने द्रोपदी को समझाया, आता ही होगा, कहीं चला नहीं जाएगा। फिर कोई बच्चा तो है नहीं, दस-बारह बरस का हुआ, थोड़ी देर और देख लो।

लेकिन द्रौपदी को चैन नहीं आया। उसने रामशरण के एक मित्र को जो गाँव के दूसरे छोर पर रहते थे, बुलवा भेजा और किवाड़ से पर्दा करके जीतू को स्कूल तक देख आने-को कहा। वह हँसने लगे। द्रौपदी को बड़ा बुरा लगा। बोली, "आप नहीं जानते, रास्ते में दो-दो पोखरे पड़ते हैं। कहीं फूल तोड़ने न चला गया हो। पैर सरक जाने से फिर कहाँ पता लगेगा। वह दर्जिया के पीपरवाला कुआँ भी बड़ी कुजगह पर है। आप ईश्वर के लिए चले जाइए।"

जब वह जाने लगे, तो द्रोपदी ने उन्हें फिर रोका, "देखिए रास्ते में वह महरी रहती है न, वह जीतू को जानती है ? उससे जरूर पूछ लीजिएगा।';

वह जैसे ही कुछ दूर गये होंगे कि महरी जीतू का हाथ पकड़े आती दिखाई पड़ी। उसका कुर्ता फट कर चिथड़ा हो गया था और पैर की एक अँगुली से ख़ून बह रहा था। माथे की नसें चढ़ी हुई थीं और आँखें लाल हो गयी थीं। द्रोपदी ने जीतू को अपनी गोद में कस लिया। उसकी आँखों से आँसू बहने लगे और जीतू भी हुचक-हुचक कर रोने लगा।

महरी ने बताया कि ये चन्दर वगैरा के साथ नथुआ के ढेलहे खेत में आज दिन भर कबड्डी खेलते रहे। उसी खेत में इन्हें पटक कर उन सबों ने घसीट दिया है। देखती हैं न इनकी दसा ? जब छोटे मास्टर इन लोगों की खोज में वहाँ पहुँचे, तो सब तो भाग गये, बेचारे यही पकड़े गये और उन्होंने कनइल की छड़ी से इन्हें खूब पीटा है। वह तो कहो मैं पहुँच गयी, नहीं तो बेचारे की न जाने क्या हालत हो जाती। और महरी ने जीतू का कुर्ता पीठ पर से उठा दिया। गहरी काली लकीरों से पीठ सूज गयी थी। कहीं-कहीं तो छड़ी धँस गयी थी।

द्रोपदी देखते ही चीख उठी। उसने आँखें बंद कर लीं और देर तक रोती रही। आस-पास की कितनी ही औरतें जुट गयीं और बदमाश लड़कों और मास्टर को अँगुली तोड़-तोड़ कर गालियाँ देने लगी। काफ़ी समझाने-बुझाने पर द्रोपदी सँभली, तो उसने जीतू के कपड़े बदलाये, उँगली में पट्टी बाँधी और पीठ पर हल्दी लगा कर उसे चारपाई पर सुला दिया और बिना खाये-पिये उसके सिरहाने बैठी, उसे देख कर रोती रही। इसके बाद से जीतू का स्कूल जाना बंद हो गया। रामशरण ने बहुत समझाया, पर द्रौपदी के आगे उसकी एक न चली, उल्टे उसे यह भी सुनना पड़ा कि 'तुम तो चाहते हो कि वह इसी तरह पिटता-पिटता एक दिन कुएँ-तालाब में डूब मरे। कौन जाने इन बदमाश लड़कों को, किसी दिन गला ही दबा दें खेल-खेल में। मैं अब स्कूल नहीं जाने दूँगी, कोई चाकरी थोड़े ही करनी है किसी की, अपनी खेतबारी देखेगा, यही बहुत है।"

"पर तुम खेत-बारी देखने दोगी तब तो! आज भींग गया, कल घाम लग गया, परसो बुखार लग गया, पचासों बहाने तो हैं तुम्हारे पास। जैसा रुचे वैसा करो!" रामशरण ने जैसे अपने को अलग करते हुए कहा।

द्रौपदी को यह बात अच्छी नहीं लगती। रामशरण जीतू से इस प्रकार का अलगाव दिखाता, तो वह दुखी हो जाती। कहती "हाँ, घर-द्वार से तुम्हें क्या मतलब!"

और जब रामशरण बड़े प्रेम से द्रौपदी के सिर पर हाथ फेर कर उसे अपने पास खींच कर कहता "द्रौपदी, कुछ काम-धंधा भी दिखाओ अपने लाल को। कभी-कभी खेत ही भेज दिया करो, मेरे साथ।"

तो द्रौपदी का गुस्सा अपनी सीमा पर पहुँच जाता। कहती, "तुम तो गृहस्ती की चक्की में अभी से उसे पीस देना चाहते हो। किसी

तरह उसे फँसा कर, खुद घूमने-फिरने की आजादी की फिकिर में हो। अभी न ब्याह, न दान, कल का लड़का, ठीक से बोलना भी नहीं जानता। जरा-सी मेहनत पड़ती है तो देह गरम हो जाती है। बड़े चले खेता कराने!" और वह जैसे पराई-सी उसके हाथों को झिटक-कर दूर खड़ी हो जाती।

रामशरण कभी भी देर तक इन बातों पर नहीं सोचता था। उसके मन में चारों ओर सुख व्याप्त था, जैसे यह सब उसके मन ही का तो हो रहा है। पर जीतू की पढ़ाई बंद हो जाने से उसकी चिन्ता बढ़ गयी थी। और अब बेकार जीतू के इधर-उधर घूमने और देर-देर तक बाहर रहने से वह चिन्ता, उदासीनता में बदलती जा रही थी।

द्रौपदी की सौंह पा कर जीतू गाँव में किसी को नहीं सेटता। बड़की कोट के बाबू रामशरण के अपने यजमान हैं, बड़ा मान-जान है रामशरण का वहाँ। पर जीतू ने एक दिन उनके लड़के से लड़ाई कर ली, दोनों की कुश्ती भी बद गयी। वह अपने घर में एक अखाड़ा चलता है, फिर जीतू ही क्यों बाज आये। उसने भी एक अखाड़ा खोल लिया और कसरत-कुश्ती का नशा उसके दिमाग़ पर सवार हो गया। द्रौपदी भी कब पीछे रहनेवाली थी। दूध की मेटकी और गिलास ले कर अखाड़े तक पहुँच जाती। जीतू को जिताना जो था जमींदार के लड़के से। रात को औंटे हुए दूध के ऊपर का मलाईदार हिस्सा जीतू को जबरदस्ती गले के नीचे उतारना होता। ऊपर से हनुमानजी को सवा सेर लड्डू और काली माई को लहँगा-चुनरी की मनौती।

पचैंया के दिन बड़े स्नेह से आशीर्वाद दे कर जीतू को द्रौपदी ने विदा किया। और घर के चौकठे पर हनुमानजी और काली माई का स्मरण करते हुए बैठी रही। उधर सारा गाँव एक बहुत बड़े बाग़ में जमा था। कहीं कबड्डा, कहीं बदी और कहीं मुर्रा की ध्वनियों से

आकाश गूँज रहा था। वर्षा का स्वागत करनेवाले इन युवकों के शरीर पर जवानी खेल रही थी। ठाकुर साहब भी मैदान में डटे थे पर उन्हें खबर कहाँ कि आज जीतू और उनके लड़के की कुश्ती होनेवाली है। नौजवानों ने जीतू को देखते ही आवाज़ दी "आ गया शेर! आज हो जाए फैसला, जै बजरंग बली की!"

और जीतू लँगोट बाँध कर अखाड़े में उतर गया। उधर से ठाकुर साहब का लड़का भी चमकती छींट की कसी चड्ढी चढ़ाये मैदान में आ गया। रामशरण पसो-पेश में पड़ गया। उसने ठाकुर की ओर देखा और ठाकुर ने उसकी ओर, पर कोई बात न हुई। आँख मारते दोनों किशोर पहलवान अखाड़े में जुट पड़े। देह जीतू की बहुत कम थी। ठाकुर के लड़के ने उसकी गरदन पकड़ कर खींचो तो जीतू के घुटने ज़मीन पर टिक गये; पर वहीं से जीतू ने उसके हाथ पकड़, घूम कर वह दाँव मारा कि ठाकुर का लड़का चारों खाने चित। चारों ओर खुशी की आवाज़ गूँज गयी। ठाकुर का मन दुखी हो गया। रामशरण को हँसी आयी, पर ठाकुर को दुखी देख, उसकी हिम्मत छूट गयी। तब तक जीतू दौड़ता आया और रामशरण के पैर छू कर, अपनी गोल में भाग गया।

उस दिन रामशरण बड़ा दुखी हो गया। घर लौटा, तो द्रौपदी की खुशी देख कर उसे बड़ी ग्लानि हुई। पहले तो वह कुछ बोला नहीं पर बातों-बातों में उससे द्रौपदी का बड़ा झगड़ा हो गया।

रामशरण को यही दुख था कि द्रौपदी को दीन-दुनियाँ का कुछ भी खयाल नहीं रहा। आखिर गाँव में बड़े लोगों से दुश्मनी मोल ले कर वह कैसे रहेगा। कल बड़ा होने पर जीतू भी उससे अलग हो जाएगा, तो उसका क्या होगा। उसने यह भी कहा कि मैंने बड़ी दुनियाँ देखी है, हाथ-पाँव होने पर कोई किसी का नहीं होता। जीतू ने जो तमाशा गाँव में खड़ा कर रखा है, उससे हमारे दुश्मनों को अपना काम साधने में कितनी आसानी हो रही है और बड़े ठाकुर...

उन्हीं का जोत-पोत करके तो...कहते-कहते रामशरण बहुत दुखी हो गया और बिना खाये ही सो गया। जीतू को भी भाई की यह सारी बातें सुन कर बड़ा दुख हुआ। आज पहली बार उसे लगा, जैसे वह भाभी का अपना लड़का नहीं है और वह नाराज़ हो कर घर में जा पड़ा। फिर रात को देर तक घर छोड़ कर भाग जाने की, भाभी के स्नेह की, भाई के व्यवहार की बातें सोचता रहा—भाभी ने चोरी-चोरी अपने सभी गहने बेच दिये हैं, मेरे ही लिए न, मेरे ही आराम के लिए न! आखिर मैं क्यों उनकी सभी बातें मान जाता हूँ। वे जैसे रखती हैं, वैसे रहता हूँ। अब नहीं होगा यह सब। अब कभी भी वह भाभी की बात नहीं मानेगा—नहीं...नहीं!—वह चीख पड़ा और अपने हाथों से अपनी आँखें दबाये फफक-फफक कर रोने लगा। द्रौपदी उसके सिरहाने खड़ी थी। उसके हाथों को अलग करना चाहती थी, पर जैसे वह पत्थर हो और एक ही बात "नहीं...नहीं..." उसके मुँह से निकल रही थी।

द्रौपदी सारी रात जागती रही पर जीतू खाना खाने न उठा, न सो ही सका।

दूसरे दिन सबेरे ही जीतू घर से बाहर चला गया। द्रौपदी ने उसे रोका, बहुत समझाया पर उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, उल्टे वह अब द्रौपदी की बातों का प्रतिवाद भी करने लगा। द्रौपदी जब खाना खिलाते समय, उसकी थाल के पास बैठती, तो वह जल्दी-जल्दी खाना खा कर उठ जाता। कभी परसी थाली छोड़ कर चला जाता। द्रौपदी ने बहुत समझाया "वे तुम्हारे बड़े भाई है न, जीतू! अगर कभी कुछ कह ही दिया, तो उसे सह जाना चाहिए, बबुआ! अभी तो तुम बच्चे हो, इस तरह रहोगे तो कैसे चलेगा?" द्रौपदी बहुत दुखी हो कर कहती और उसके सिर पर हाथ फेरना चाहती, पर जीतू उसके हाथ हटा कर अलग हो जाता।

"चलने की कौन बात है, भाभी ? मैं ही तो हो गया हूँ भार तुम लोगों के सिर पर। जी में आता है कहीं सब छोड़-छाड़ कर चला जाऊँ, पर तुम...तुम क्यों नाहक मेरे पीछे परेशान होती हो !" कहते-कहते उसका गला भर आता और वह जल्दी-जल्दी घर से बाहर चला जाता।

जीतू की ये बातें सुन कर द्रौपदी का कलेजा फट जाता। वह सोचती, जा कर रामशरण के पैरों से चिपट जाए कि जीतू को सँभालो, उसे समझाओ, वर्ना कहीं चला जाएगा; पर रामशरण का रुख देख कर उसकी हिम्मत छूट जाती।

जेठ का महीना आ गया था। धूप बढ़ती जा रही थी। सुबह से ही लू चलने लगती थी। किसान जल्दी-जल्दी अपना खलिहान निबटाने में लगे हुए थे। जीतू दिन-दिन भर दँवरी चलाया करता था। कभी मन में आता तो आ कर खा जाता, नहीं तो वैसे ही रह जाता। द्रौपदी कभी खाना किसी से भेज देती, कभी उसी तरह चौके में बैठी-बैठी उसकी बाट जोहती। ऊपर से रामशरण उसे डाँटता, तो वह रोती और जा कर सो रहती।

एक दिन दोपहर को जीतू एक बड़े खाँचे में भूसा भर खलिहान से लौट रहा था। बोझ रास्ते में बिगड़ गया। उसके सिर की पगड़ी कुछ खिसक गयी थी। उसकी गर्दन झुकी जा रही थी। पर वह घर को करीब समझ कर बोझ गिराना नहीं चाहता था। दरवाजे पर आते ही उसे देख कर मझले भाई की स्त्री ने दौड़ कर बोझ थाम लिया और कहने लगी "किसके लिए यह कलेजा फाड़ रहे हो, बबुआ ! न मेहर, न लड़िका, कहाँ तक करोगे ! यही तो कहते हैं कि दो पकी रोटियाँ खिला कर एक मजूर की तरह काम ले रहे हैं !"

मझला भाई घर से निकल आया था, कहने लगा "हमेशा ऐसे ही रहेगा यह, जिसे अपने हक का ध्यान नहीं, वह क्या कर सकता है दुनियाँ में !"

द्रौपदी के कान में यह बातें पड़ गयीं। वह जीतू को आया समझ कर दौड़ी हुई बाहर आयी, तो ईंट के झरोखे से देखा कि मझली बहू अपने आँचल से उसके माथे का पसीना पोंछ रही है, और कह रही है "जाओ, तुम्हारी भाभी ने मालपुआ बना रखा होगा, खा कर फिर...." वह कहती ही जा रही थी कि जीतू ने उसका हाथ झटक दिया। "इसीलिये इतनी ममता दिखा रही हो क्या ?" वह बुदबुदाता हुआ अपने घर में घुस गया। द्रौपदी जीतू की बात सुनने से पहले ही वहाँ से हट गयी थी। उसके मन में एक भयानक तूफ़ान उठ रहा था। इसलिए जब जीतू घर में घुसा, तो उसने अपने घर की अरगनी अंदर से चढ़ा ली। जीतू ने बड़ी आवाज़ लगायी, कई बार पुकारा, तो वह निकली। जीतू ने उसे अनमनी देखा, तो उसका मन बड़ा दुखी हुआ, पर जैसे-तैसे दो-एक रोटियाँ निगलकर वह फिर खलिहान की ओर भाग गया।

उसी दिन शाम को द्रौपदी गो बुखार हो आया। घर कोई नहीं था। वह बड़ी रात गये तक अपने अँधेरे घर में बड़बड़ाती पड़ी रही, "यह जीतू को क्या हो गया है....कैसी बातें कर रहा था वह, उन लोगों से.... जाने कब से आया हुआ था....यह तो वह जानता है न कि भाभी बिना उसके खाना नहीं खाती....यह तो जानता है न... यह तो..." वह अँधरे में घुटी जा रही थी।

काफ़ी रात बीते रामशरण जला-भुना-सा आया, तो द्रौपदी को खोजता फिरा। जब वह मिली, तो बिना उसकी हालत पूछे ही सुनाने लगा, "रानी जी, आराम कर चुकी हों, तो कान खोल कर अपने लाड़ले की करतूत का नतीज़ा सुन लो। ठाकुर का कारिन्द आया था, परवाना दे गया है कि वे सारे खेत छोड़ देने होंगे, जो ठाकुर ने दिये हैं और लगान के बाकी दो सौ रुपये भी सात दिनों में दाखिल कर देने होंगे, वर्ना मकान कुर्क कर लिया जाएगा। कहो, अब तो मन भर गया न दुलार से।"

द्रौपदी जैसे किसी पत्थर के नीचे दब गयी हो, बोली, "तो तुम यह सब कह रहे हो...बोलो...बोलो, बोलते क्यों नहीं ?"

द्रौपदी रामशरण के पैरों से सट गयी थी। रामशरण उसकी हालत देख कर चौंक उठा। बोला, "यह क्या हो गया तुम्हें ? अरे !"

उसने उसका माथा हाथ से छुआ तो बड़ा तेज़ बुखार चढ़ा हुआ था। बोला, "कुछ नहीं...कुछ नहीं, सब ठीक हो जाएगा। तुम सो जाओ। देखो, मैं जीतू को बुलाये देता हूँ।"

और द्रौपदी को चारपाई पर लिटा कर जैसे ही वह बाहर निकला, जीतू दहलीज में खड़ा था। रामशरण को देखा तो धीरे से बाहर चला गया। रामशरण के जी में आया कि उससे कुछ कहे, पर फिर ठाकुर-वाली बात उसे याद आ गयी और वह सीधे घर से बाहर हो गया।

धीरे-धीरे कई दिनों में द्रौपदी कुछ अच्छी हुई, पर जीतू को उसने एक बार भी अपने पास नहीं बुलाया। कुल ले-दे कर उसके गले की एक सोने की हँसली ही तो बच रही थी, सो बेच-खुच कर उसने ठाकुर का लगान दिलवा दिया और रामशरण से कह दिया कि वह जा कर ठाकुर से माफ़ी माँग ले। ठाकुर खुद बाप-दादों की दी हुई इस ज़मीन को लेना नहीं चाहता था, इसलिए मान गया; पर रामशरण के मन में जीतू के व्यवहार के प्रति दुख बढ़ता गया।

उस दिन शाम को द्रौपदी की तबिअत कुछ भारी थी, पर खाना तो बनाना ही था और लकड़ी का एक तिनका भी घर में नहीं था। जीतू खेतों की मेंड़ ठीक करके घर लौटा था। उसे कुछ भूख-सी लग आयी थी। घर पहुँच कर जैसे ही उसने कंधे पर से कुदाली उतारी, द्रौपदी ने कहा, "घर क्या हो गया, नरक, न एक लड़की, न एक फाटा, कैसे बनाऊँ खाना। अपना हाथ-पैर थोड़े ही लगा दूँगी चूल्हे में।"

जीतू को लगा जैसे भाभी मुझे ही कह रही हैं। इसलिए उसे

कुछ झुँझलाहट हुई। बोला, "कहाँ सूखी लकड़ी मिलेगी, सभी लोगों के घर तो ठाला है, ईंधन का।"

द्रौपदी को यह बात लग-सी गयी। बोली, "सो बात तो अलग है, जीतू! जब ब्याह कर लाओगे, तो पता चलेगा। ऐसी ही हालत रही तो पेट पालना मुश्किल हो जाएगा।"

और जीतू, भाभी का मुँह ताकता रह गया था।—क्या लोग जो कहते हैं, ठीक है? क्या सचमुच भाभी मुझे अपने से अलग समझती हैं? इतने दिनों से मुझसे बोलीं नहीं। मैं कितना नीच हूँ, कितना, उफ्!—उसका धैर्य छूट गया और वह अपने मन में निश्चय करके घर से बाहर निकल गया।

उस दिन रात जब द्रौपदी चौके में बैठी-बैठी सोच रही थी, तो उससे मन में स्नेह की एक ऐसी व्यापक भूख थी कि वह संसार को भूल जाना चाहती थी। किसे पाये और पकड़ कर खूब लड़े कि, "तूने मेरे जीतू को मुझसे छीन लिया! तूने मेरे छाती के लाल को, मुझसे अलग कर दिया! और उसका मन मँझले भाई और उसकी पत्नी की नीचता से बिंध रहा था। वह सोच ही रही थी कि वे आएँ, तो उनसे कह दे कि, जीतू का हिस्सा उन्हीं लोगों को दे दें, पर उन्हें समझा दें कि, मेरे जीतू को मुझसे क्यों फोड़ते हैं। पर रामशरण की उट-पटाँग बातों से उसका मन और दुखी हो गया। रामशरण खुश था। उसे नयी आशा मिल गयी थी। वह ठाकुर के यहाँ से इतनी रात को लौटा था और ठाकुर ने लगान के दो सौ रुपये भी लौटा दिये थे।

आज द्रौपदी देर तक सोचती रही—जीतू कहाँ चला गया होगा! कहीं भाग तो नहीं जाएगा? तब मैं कहाँ पाऊँगी उसे? अभी तो कहीं पास ही होगा, ढूँढ़ने से मिल सकता है। दूर न गया होगा। चलूँ, इनसे कहूँ। वह उठी, चौखट तक गयी, पर उसकी हिम्मत न पड़ी। फिर वह अपने घर में लौट आयी। चारपाई पर बैठते ही उसे

फिर डर लगा। "क्या होगा, अगर वह बाहर चला गया, तो क्या होगा ?..." और धीरे-धीरे उसकी पलकें झँप गयीं, पर एकाएक वह चौंक पड़ी। "दौड़ो...दौड़ो ! मेरे जीतू को...मेरे जीतू को..."

रामशरण उठ बैठा। उसने जा कर उसे सँभाला।

द्रौपदी जग गयी थी। उसने रामशरण से पूछा, "जीतू लौटा ? अभी मैंने सपना देखा कि वह जोगी हो गया है, घर छोड़ गया है, सो मैं चौंक पड़ी।"

रामशरण ने उसे अपने सीने से सँभाल लिया था। उसने कहा, "सोचता हूँ कल जा कर सुमित्रा को बुला लाऊँ, तुम्हारी हालत दिन-दिन बिगड़ती ही जा रही है, ऐसे ही बुखार रहा तो..."

"मैं भी यही सोचती हूँ, तुम कल ही चले जाओ !" द्रौपदी ने कहा और फिर सोचते-सोचते रात के अँधेरे में खो गयी।

द्रौपदी की हालत दिन-दिन ख़राब होती जा रही थी। पहले शाम को बुख़ार आता था और सुबह उतर जाता था; पर अब चौबीसों घंटे बना रहने लगा। कभी-कभी बुख़ार इतना बढ़ जाता कि वह बेहोश हो जाती और ऊल-जलूल बकने लगती। जो लोग उससे मिलने आते, उनसे यही कहती, "अब जा रही हूँ बहिनी...अब मेरा जीवन..." और उसकी आँखों में जीतू नाच उठता, पर दूसरे ही क्षण उसके चेहरे पर द्वेष के भाव उमड़ आते और वह सुमित्रा से कहने लगती, "सुमित्रा ! देख, दरवाजा लाँघ कर, उधर कभी मत जाना। उन लोगों का कोई ठिकाना नहीं..."

सुमित्रा सुनती और उसका माथा सहलाने लगती। "जीजी ! बोलो नहीं, बहुत बुखार है, वैद्यजी ने मना किया है।"

"भाड़ में जाए तेरा वैद्य ! अब मुझे जीना थोड़े ही है, अब क्या रहा पगली !"—और एक कृत्रिम मुस्कराहट उसके चेहरे पर खेलने लगती। जैसे वह स्वर्ग को चिढ़ा रही हो। फिर क्षण ही भर बाद सुमित्रा से पूछती, "तुमने जीतू को देखा है। सुना है, उनके घर मे

खाता-पीता है। मेरी बीमारी सुन कर भी तुम से कुछ नहीं पूछता ?"

और जैसे ही सुमित्रा कुछ कहना चाहती, वह बीच ही में टोक उठती, "रहने दे, रहने दे, मुझे किसी की कोई जरूरत नहीं। पर देख तू न जाना उधर कभी !"

सुमित्रा चुप हो जाती।

एक दिन सुमित्रा कुएँ पर पानी लेने गयी, तो देखा कि पीछे से जीतू भी चला आ रहा है। वह बगल में खड़ी हो गयी। जीतू के हाथ में माटी की एक गगरी थी और दूसरे में सना हुआ आटा लिपटा था। सुमित्रा को देख कर उसने कहा, "चलो न, मैं पानी भर देता हूँ।"

सुमित्रा पीछे-पीछे चली। उसके आटे में सने हाथ देख कर उसे हँसी आ रही थी। बोली "तो पिसान भी सानने का काम तुम्हीं करते हो जीतू ?"

"हाँ सुमित्री ! पेट बड़ा अधम है। कई दिनों तक तो यही सोचता था कि नहीं खाऊँगा, वैसे ही रह जाऊँगा। पर तब आशा थी, कहीं से उम्मीद थी, लेकिन अब मेरा आटा कौन सानेगा ? जब माँ से बढ़ कर, मेरी भाभी ही मुझसे रूठ गयीं।"

कहते-कहते जीतू बच्चों की तरह रो पड़ा। सुमित्रा का भी दिल भर आया। वह वैसे ही खाली गगरी ले कर लौट गयी और द्रौपदी के सीने से सट कर रोने लगी। जब द्रौपदी ने बहुत पूछा, तो उसने सारी बात कह डाली।

दुर्बल द्रौपदी पागल हो उठी—लड़खड़ाती, गिरती-पड़ती किसी तरह मझले भाई की दहलीज़ तक पहुँची। जीतू चूल्हे में सिर गाड़े, सिसक-सिसक कर गीली लकड़ी फूँक रहा था। उसके आटे से सने हाथ राख से भर गये थे। द्रौपदी का कलेजा पिघल गया। उसने एकाएक पुकारा, "जीतू ! मेरे लाल..." और जीतू जैसे काठ-सा उसकी ओर देखता रह गया।

हरामी के बच्चे

—ज़रा-सी बात पर...लेकिन सभी बातें तो ज़रा-सी ही होती हैं। ज़रा-से देर में साँसों के धागे टूट जाते हैं। बड़े-बड़े ज़ालिम लोग धूल में नाक रगड़ने लगते हैं। ख़ून के फ़व्वारे ..! फिर वही ख़ून, मैं हमेशा के लिए भूल जाना चाहता हूँ। मैं कोई ख़ूनी हूँ, मैंने किसी आदमी को मारा है ? नहीं, नहीं, बिल्कुल नहीं। मैंने तो एक जानवर को—पागल जानवर को...

—क्यों लाल हो गया है, यह अँधेरा ? इसका रंग तो काला होता है ! मुझे कुछ दिखाई नहीं पड़ता। मेरी आँखें ख़राब हो गयी हैं, इन पर पाप छा गया है—एक ब्राह्मण को मार डालने का पाप—ब्रह्महत्या का पाप !

—कैसी बिकराल आकृति है ! ख़ून से सारा फ़र्श भींग गया है, लाल, चारों ओर लाल, दीवारें लाल, अँधेरा लाल, सब कुछ लाल, सब रक्त, ख़ून...ख़ूनी, लेकिन यह कोई नयी बात तो नहीं है। अकेला मैं ही तो दुनियाँ में नहीं हूँ। बहुत से लोग ख़ून करते हैं और सज़ा—इसकी सज़ा...!

—कितने मजबूत रस्से हैं। कड़ी-कड़ी गाँठे, गले को दबा रही हैं। ओह मेरी आँखें बाहर निकल आएँगी—ब्रहार। साँसे घुट रही हैं...अरे यह मच्छर ! हाथ चट से गरदन पर बैठते हैं—फिर उसे सहलाते हैं। यह क्या लग गया हाथ में, चिपचिपाहट कैसी ? मच्छर का ख़ून, और फिर वही ख़ून...फिर वही हत्या...

गाड़ी से उतरते ही जैसे मैं भौंचका-सा हो गया। मुझे लगा, सारी

आँखें मुझे ही घूर रही हैं। मैं ही...मैं ही...और मेरे जी में आया, मैं भाग जाऊँ, पर सहसा, "टिकट...टिकट...!" बाबू ने कहा था।

"जी!" और फिर मैं आगे कहने जा रहा था, "नौकर हूँ, मालिक उधर बैठे हैं।"

पर मैंने हाथ से अलग-बगल टटोला, तो वहाँ कोई डोल्ची, थरमस, होल्डाल या टिफ़िन-केरियर नहीं था। क्या सँभालता मैं और उसने डाटा, "क्या कहते हो, मैं टिकट माँग रहा हूँ। कहाँ से आ रहे हो, कहाँ जाना है?"

मैं उसे टिकट दिखाने ही जा रहा था कि उसने चौकीदार को आवाज़ दी, "इन्हें बंद करो! बिना टिकट सफ़र करके, पागल बनने की कोशिश कर रहे हैं।"

"जी मैं...मैं...!"

"कुछ नहीं साहब, आज कल यही तरीका बन गया है, लोगों का। प्लेटफ़ार्म पर बैठ जाएँगे। चोरियाँ करेंगे, कत्ल करेंगे..." जैसे किसी बहुत नाजुक मशीन के सारे पुरजे, किसी गहरी चोट के कारण बिखर गये हों। मुझे पता नहीं, फिर उसने क्या कहा। जैसे मेरे कान का परदा फट गया हो। मैं कुछ नहीं सुन पाया...कुछ भी नहीं...और पसीने से मेरा सारा शरीर भींग गया...कत्ल...खून... औरत...पैसा...

—लेकिन बाबू कब चला गया, कब अँधेरे का भयावह, काला बुरक़ा मेरे ऊपर फैल गया? यह सब मुझे नहीं मालूम। बस मैं एक कोठरी में बंद हूँ—गंदी और डरावनी कोठरी, मृत्यु की कोठरी।

टिकट मेरे पास है, पर इसका मैं क्या करूँ? चौकीदार घूम रहा है पर उसके हाथ की काली लालटेन, उसकी लाल रोशनी—खून

की तरह लाल। मैं मृत्यु के मुँह में हूँ। लेकिन वह चौकीदार, ही... ही करके खीस काढ़े अपनी हथेली पर सुरती मलते—मलते, तालियाँ पीट कर एकाएक सुर्ती की गर्द उड़ाता हुआ कह रहा है।

"भयवा टीसन का रोजगार ही अइसा है। चोर, बदमाश, उचक्का, और सब-तो-सब, जब से विसराम पंडित का कतल हुआ है..."

मेरे प्राण सूख गये। यह तो सब जानता है। शायद यह बापू और सत्ती के बाबा जगेसर दादा को भी...

और मुझे सत्ती की याद हो आयी,—डरने से काम बिगड़ जाएगा...जो कमज़ोर हैं, उन्हीं को सताती है, दुनियाँ...जगेसर दादा बचा लेंगे...उनसे ज़रूर मिलना...उनसे...

"हो बुद्धू ही यार। दो रुपियों में तो जान बच जाती। चार आना हमें भी मिल जाता।" मेरे हाथ जेब में थे, सत्ती की बातें दिमाग़ में नाच रही थीं। मैंने गुस्से में कहा, "बुद्धू मैं नहीं, तुम्हारा बाबू है। मेरे पास टिकट है! होने दो सबेरा..."

"एँ..., टिकस...! सच बोल्यो...।" और भूत-से काले, डरावने मुँह में आग-सी जलने वाली, लालटेन का शीशा, हरे से लाल करते हुए उसने मेरे हाथों पर रोशनी डाली, जैसे ख़तरे का सिगनल दे रहा हो। फिर गमछे को सिर पर लपेटते हुए, वह चम्पत हो गया और लौटा तो मैं कोठरी से बाहर कर दिया गया। लेकिन चौकीदार मेरे पीछे पड़ा रहा। उसकी बातों से लगता था वह मेरे मृत बापू का दोस्त है, जगेसर बाबा का साथी है। इसलिए, मैं चुपचाप उसकी बातें सुनता रहा।

अगल-बगल कुछ एक मुसाफिर मुकुड़ी मारे खुर्राटें भर रहे थे।

सामने की तौलने की मशीन पर, एक बहुत ही भयावनी मनुष्य

आकृति, सिर नीचे किये, अपने बालों में अँगुलियों से कंघी कर रही थी। बीच-बीच में वह अपने हाथों से, अपने शरीर को ज़ोर से पीट कर कुछ भुनभुना देती और ही...ही, करके हँसने लगती।

"बेचारा पागल है।" मैंने बात बदलने के लिए कह दिया पर चौकीदार माना नहीं। "दो बज गये हैं, भइया! जमाना खराब है, यहीं बइठि के निवार लो रात। चलो जगह बताए देते हैं।"

वह तौलने वाली मशीन की बगल में पड़े, बड़े काठ के बक्स के पास चला गया, जो इस स्टेशन पर रुकने वाले शरीफ़ों का एक मात्र बैठक है। इसी बीच वह पागल, "कमीने कहीं के, हरामज़ादे... छीः...छीः...,थू...थू...." करता, जैसे सचमुच किसी के ऊपर थूकता, एक हाथ उठाये, खुले प्लेटफ़ार्म की ओर भागा। बाहर, बादलों से छनी, कुहासे-सी, हल्की चाँदनी के प्रकाश में, प्लेटफार्म पर दौड़ती हुई वह आकृति ऐसी लगी, जैसे उसके उठे हुए, एक हाथ की अँगलियाँ आसमान को छू लेंगी। देखते-देखते उसकी छाया लुप्त हो गयी, पर उसकी बात, उसकी घृणा, मेरे मन में उतर गयी।

"मेरे साथ भी पंडित की बड़ी किरपा थी। टीसन में उन्हीं की दया से चाकरी मिली। सब जगेसर भइया के मरजाद का फल है, मुदा डुबो दिया सरजू ने सारा करम-धरम। इज्जत-पानी चला गया।" सहसा मैं बोलते-बोलते बचा। फिर मन को कड़ा कर, काठ की संदूक पर आसन जमाते हुए, सोचने लगा—यह मुझे भी जानता है, और यदि पहचान ले तो? और इस 'तो' ने उस काली लालटेन की रोशनी को मेरे लिए और भी डरावनी बना दिया। मेरा सारा शरीर पसीने से लथपथ हो गया।

"पुलुस सरजुआ को खोजती है। हमसे भी बहुत कहते थे। मुदा ये बेवकूफ नहीं जानते हैं कि जगेसर भयवा का दमाद का हमार दमाद

नहीं है ? चाहे खून करे, चाहे डाका मारे, पर भइया तो तरस गये उसे देखने को, और इसी में उनकी आँखों की रोशनी भी भगवान ने छीन ली। बेचौरू को पुलिस का डंडा लिखा था, इस उमिर में। मन में आया छूरा भोंक दें सालों के पेट में। पूछते थे, 'तुम्हारी बेटी से पंडित का क्या ताल्लुक था ?' सीता-सी बिटिया पर यह तोहमद लगाते हैं कि, पंडित ने उसे रख लिया था। इसी कारण, सरजू ने पंडित को मार दिया है।" जैसे किसी बेहवा की, अँधरी कोठरी की दीवार से कोई ईंट खिसक कर अपने आप गिर गयी हो। मैंने ज़ोर से साँस ली फिर उसने रुकते हुए कहा, "भइया तुम नहीं समझोगे, इसमें बड़ा फेर है। बात यह है कि जो पंडित मरा है न, उसका बाप यहीं का जमीन्दार था। उसके घर में दो जने, भितरी नोकर थे जगेसर भइया और रामू। दोनों माली थे। रामू तो असमय में चला गया पर पंडित ने उसकी गरभवती बीबी को, अपनी कलकत्ता वाली जमीन्दारी की कोठी भेज दिया। वहीं सरजू पैदा हुआ, और कुछ दिन के बाद उसकी माँ भी चल बसी। जगेसर भइया यहीं रह गये। देवता पंडित भी मर गये, तो जगेसर भइया ने कहा, 'पिरथी पर से धरम उठ गया।' बहुत रोये, बहुत कलपे। का अब के मनई में वह पानी होगा, भइया! जमाना लद गया। जगेसर भइया यही कहते हैं कि, 'आतमा की दुरगत हो रही है। देह छोड़ही के चाही।' पर बेचारे जिस आशा में थे, वही काल हो गयी।"

मैंने मौन तोड़ा, "क्या हुआ बाबा ?"

"ये मलिच्छ भाषा पढ़े लोग का कुछ ठिकाना नहीं। मुदा कुछ कहा नहीं जा सकता है, भगवान जाने। त्रिलोकी नाथ की माया विचित्तर है। सत्ती, अरे वही जगेसर भइया की कन्या। मुदा वह तो बड़ी सुशील है, बड़ी नेक। वही कलकत्ते की कोठी में रहती थी। जगेसर भइया, और रामू काका पहले ही से चाहते थे कि, सत्ती और

सरजू का वियाह हो जाए। सो यह नये वाले विसराम पंडित सत्ती को, सरजू से वियाह करके, वहीं रखने के लिए, ले गये। फिर बाद में बताया कि वियाह मैंने कर दिया। भइया को दूसरी भी आँख चली गयी। तो मन में बड़े खुश हुए, कि अब क्या देखना है।" कहते-कहते जैसे ही, उसने जेब में हाँथ डाला, शायद सुरती निकालना चाहता था, कि गाड़ी की सी....सी की आवाज़ सुनाई पड़ी। स्टेशन-मास्टर हड़बड़ाया हुआ, अपनी कौंछ बाँधता, बड़बड़ाता, स्टेशन में घुसा और चौकीदार अपनी भयावनी बत्ती का रंग, लाल से हरा करते हुए उठ खड़ा हुआ, "जुलुम हो गया भयवा, गाड़ी विघल पर खड़ी हो गयी, मुदा हमें पता ही नहीं, राम-राम !"

उसी समय वह पागल, "सी...सी..."कहता हुआ आया और उस वज़न करने वाली मशीन के नीचे बैठ कर, लोहे को सहलाने लगा। फिर जैसे, कोई बड़ी छिपी हुई बात कह रहा हो—बहुत मगन हो कर, "अच्छा, तो नहीं...! नहीं...? थू है...थू है...थू .." और वह, उसी तरह, एक उगुली से आकाश की ओर इशारा करता भागा। मैंने इधर-उधर देखा। चौकीदार जल्दी-जल्दी चाभी घुमा कर, सिगनल गिरा रहा था और लोग बातें करते हुए, प्लेटफ़ार्म पर चले आ रहे थे। मैं जल्दी-से उठा और चौकीदार की निगाह बचा कर, स्टेशन से बाहर चला आया।

हलवाई की दूकान—उसके सामने पड़ी, बड़ी चौकी पर कई आदमी और कुत्ते साथ-साथ सो रहे हैं। मुझे देखते ही, एक छोटी-सी कुतिया गुर्राती है और सब-के-सब भूँकते हुए, मुझे चारों ओर से घेर लेते हैं। मैं एक को डाँट कर भगाता हूँ, तो दूसरा मेरे पास पहुँच जाता है। फिर जब पीछे घूम कर, दूसरे को डाटता हूँ, तो पहले वाले पीछे लग जाते हैं। समझ ही में नहीं आ रहा है कि क्या करूँ। अंत में परेशान हो कर, सोचता हूँ, किसी को बुलाऊँ और सहायता के लिए, इधर-

उधर देखता हूँ, तो बग़ल में खड़ी एक युवती मुझे देख कर हँस रही है।

गुस्सा हो आता है, और मैं बिना सोचे-समझे बकने लगता हूँ, "अच्छा लग रहा है तुमको शर्म नहीं आती, किसी को परेशानी में देख कर हँसते हुए। चमरपिल्लियाँ पाल रखी हैं!"

लेकिन उसके ऊपर मेरी बातों का कोई असर नहीं पड़ता, बल्कि वह और ज़ोर से हँसने लगती है, मेरी साँस, बेहद फूल रही है। मैं हास्यास्पद हो गया हूँ, कंधे का गमछा एक ओर गिर पड़ा है और हाथ का झोला दूसरी ओर। वे सारे कुत्ते इस बात-चीत के कारण, मुझे देखते हैं, कुछ सूँघते हैं, और वापस जाने लगते हैं।

वह जैसे मेरी हीनता पर व्यंग करते हुए कहती है, "वह अपना समान उठा लो, बैठ के सुस्ताओ! तुम्हारी देहिया तो काँप रही है"

"तुमसे मतलब, तुम अपना काम करो!"

"बिगड़ रहे हो! अच्छा तो फिर कुछ न कहना" और वह जाते-जाते "लहनी-लहनी" दो बार कह कर, आगे बढ़ जाती है। सारे कुत्ते, पल भर में मुझे चारों ओर से घेर लेते हैं और फिर मेरी वही दुर्गति शुरू हो जाती है। बचने का कोई रास्ता न देख, मैं चिल्ला पड़ता हूँ। वहाँ सोये हुए, सभी लोग जग जाते हैं। दूकान ने सामने एक नन्हें-से खटोले पर, एक हाथी का बच्चा सोया है। वह हिलता-डुलता है। फिर कुछ चिढ़ कर, भुनभुनाता है, "रामी, अरे ओ रामी! देख तो क्या हो रहा है?" रामी बड़ी शोख मुस्कराहट बिखेरती निकलती है।

"भगाओ, मदाड़ी-सदाड़ी को। फजिल में बानर का मुँह दिखाएगा।" और उसका भारी पेट, फिर ऊपर-नीचे होने लगता है और नाक से, घर ऽ ऽ र ऽ र ऽ घर...ऽ ऽ र ऽ र ऽ घो की आवाज़

निकलने लगती हैं, और अन्य लोग, मुझे, बहुत महत्वहीन प्राणी जान कर, अपनी-अपनी जगहों पर पड़ जाते हैं ! मैं उस लड़की को देखता हूँ, उसके शरीर के मैले रंग और कीचट कपड़ों से, अभी रात का रंग मिला हुआ है, लेकिन उसकी बड़ी-बड़ीआँखों की सफ़ेदी, इस धुँधलके में मुस्कराती हुई, डोल रही है। मुझे बहशत सवार हो जाती है। मैं हाथ से इशारा करके, कहता हूँ, "सुनो !"

वह फिर हँसने लगती है। फिर, "जाओ, अपना काम देखो ! नहीं तो...." और वह उस, एक बालिश्त-भर, ऊपर-नीचे उठने-गिरने वाली तोंद की ओर इशारा करके हाथ से उसके मोटापे का अंदाज बता कर मुझे डराती हैं, "मार डालेगा।"

मुझे बेहद हँसी आ रही है। जी में आता है, इस लड़की को पकड़ कर, इसके हाथ उमेठ दूँ, पर वह बाहर तो आए !

"अरे वह आग कैसी ? कोई घर जल रहा है।" मैं डरने का अभिनय करता हूँ। वह दौड़ी हुई आती है। मेरे आगे खड़ी हो जाती है।

"कहाँ ?"

"वहाँ !" मैं इशारा करते हुए, आगे बढ़ता हूँ। वह बढ़ कर, कुछ दूर जा कर, रुक जाती है और बड़बड़ाती है, "झुट्ठा ! अभी चिल्लाती हूँ।"

मेरी रूह काँपती हैं। बढ़ कर उसका हाथ पकड़ लेता हूँ और वह जोर से हाथ छुड़ाते हुए, चिल्लाती है, "अप्पा..." बस इतना ही, क्योंकि उसके मुँह पर मेरा एक हाथ है। वह तेज़ तलवार की तरह तराशती है, बदन को।

"पागल हुई हो क्या। नाहक़ मेरी जिन्दगी खतरे में डालती हो। मैं चला जा रहा हूँ।" मैं उसका मुँह छोड़ देता हूँ।

कुछ समझ में नहीं आता क्यों, किस लिए ?

लेकिन फिर वही, नन्हें-नन्हें सिंधूरी हाथ-पाँव। पतली-पतली अँगुलियाँ...

रुन—झुन...रुन—झुन...झुनुक—झुनुक ..झुन...
रुन—झुन...रुन—झुन...झुनुक—झुनुक...झुन....

मेरे कान बहरे क्यों नहीं हो जाते, मेरी आँखें फूट क्यों नहीं जातीं ?

वह राजकुमारी मन में बस जाती है, जो हँसती थी, तो मोतियों का ढेर लग जाता था और चलती थी तो, महावर से राह रँग जाती थी—

रुन-झुन...रुन-झुन....झुनुक-झुनुक...झुन

—साहब का तार मिल—हम तेईस सितम्बर को पहुँच रहे हैं। बँगला साफ़ रहता था, पर नयी अवाई में और सफ़ाई हुई थी। गमले रँग दिये गये थे। मोटरें धोयी गयी थीं और खिड़कियों के शीशे साफ़ करते-करते, हमारे हाथों की नसें फूल गयी थीं। जमादार कहता था, "कहीं एक गर्द का जर्रा न रहने पावे। अब बड़े पंडित की बात गयी, मोटा हिसाब-किताब अब चलने का नहीं। हमारा छोटा पंडित तो साहब है, साहब ! बिलकुल अंग्रेज़ी मामला है इसका।"

कभी खुश रहने पर जमादार कहता, "अभी क्या देखा, जब मेम ले आएगा, तब देखना। हिन्दुस्तानी औरतों से तो इसे सख्त नफ़रत है। गाड़ी भर तो आती हैं, एक से एक हसीन, पर हाथ से मोटर के भोंपू की तरह, सीना दबा कर, छीः कर देता है। और साहब के साथियों के बाद, बासी होते ही, बनवारी लाल के दल्लाली कोड़ों से उनकी दीक्षा की जाती है, फिर हरामज़ादियाँ उनका नाम पड़ जाता है।

पता नहीं इनका क्या उपयोग है ? सुना सिनेमा में काम करने और ज़रूरत-मंदों का बिस्तर गरम करने का काम करती हैं, ये।"

बूढ़ा खानसामा तो अधरम की इस दुनियाँ से ऊब कर, ज़हर खाने की बात रोज़ करता है, "भगवान बचाये इस लीला से, जिसका बाप बिना संध्या-बंदन के अन्न का टुकड़ा मुँह में नहीं डालता था, उसी का बेटा तिरियों का व्यापार करता है।"

मैं बहुत तह में नहीं जा पाता था इन बातों के। मन को काम का नशा रहता था। थोड़ी-थोड़ी तारीफ़ों के लिए ललचा करता था। इसलिए तार पाते ही, मैं साहब के स्वागत की तैयारी में लग गया था। मेरा पैर ज़मीन पर इसलिए भी नहीं पड़ रहा था कि सत्ती आ रही थी। सभी बातें सुनी थीं। साहब ने भी कई दिनों मज़ाक में कहा था, "यहीं होगी तेरी शादी। सत्ती को मैं ले आऊँगा, क्यों ?"

मेरी साँसें फूल गयी थीं। नसों में खून फूट निकलने को हो गये थे। माथे पर पसीने की बूँदे उभर आयी थीं और मैं भाग कर अपनी कोठरी में पहुँच गया था। बिस्तर पर पड़े-पड़े सत्ती की चाल-ढाल, रूप-रंग, बात-चीत; सबका एक काल्पनिक खाका बनाता और उसे सम्भाल कर दिल में सँजो लेता। लेकिन दो दिनों तक लगातार, गाड़ी स्टेशन पर लगी रही, खाना बनता रहा, नाश्ता मेज़ पर लगता रहा, पर साहब नहीं आया।

—पंद्रह दिनों के बाद सत्ती आयी थी।

—सहसा उस दिन टैक्सी आ कर खड़ी हो गयी तो मैं बेज़बान हो गया। समझ में नहीं आया कि क्या करूँ ? कैसे जाऊँ, साहब के सामने ? वह हँसता हुआ गाड़ी से उतर कर, मज़ाक कर बैठेगा और मुझे मुँह छिपाना पड़ेगा। फिर कैसे खड़ा रह सकूँगा ? पर जाना तो था ही, इसलिए गया। बात-चीत की कौन कहे, पंडित ने एक ऐसी

टेढ़ी निगाह मुझ पर डाली कि मैं काँप कर रह गया। क्या हो गया भगवान? मैंने झट दौड़ कर पैर छू लिया। शायद मैंने देर कर दी पैर छूने में। मैं बहुत देर तक सोचता रहा, पर पंडित कुछ न बोला। धीरे-धीरे वह बैठक में जा कर एक सोफ़े पर लुढ़क गया। जमादार जल्दी-जल्दी सामान उतरवाने लगा। सत्ती जैसे पाला की मारी, कुइन की तरह मुरझाई बैठी थी। आँख के पपोटों के नीचे, गहरी काली परछाँहीं—सारा मासूम शरीर, बेहद रौंदा और थका लग रहा था। जैसे कई रातों की जगी हो।

—मेरा मन बेहद उदास हो गया। पंडित की वह नज़र, जैसे मेरे कलेजे में धँसती जा रही थी। मैं जल्दी-जल्दी सामान उतारता रहा, फिर सहसा।

रुन-झुन...रुन-झुन...झुनुक-झुनुक...झुन...

मैंने घूम कर देखा, कोई नवविवाहिता, अपने पति के साथ गाड़ी पकड़ने की जल्दी में बढ़ी जा रही थी। सहसा उसके पाँव में कुछ गड़ गया था और वह अपने पति के कंधे को, दोनो हाथों से पकड़ कर उससे सट गयी थी।

"अरे छोड़ भी, भिनसार हुआ है। बैठ जाओ, निकाल देते हैं।"

"ऊई माँ, परान चला गया...सी...सी..."

—पर सत्ती...?

मैं फिर रास्ते में खो गया।

—गहरी काली रात थी। ज़ोर की हवा चला रही थी। बनवारी चार लड़कियाँ नयी लाया था। उस दिन साहब ने कहा था, खाना जाएगा बारादरी में, पर बनवारी नशे में झूल रहा था। उसने कहा, "मारो सालियों को यार! खिला-पिला कर देह कड़ी कर दोगे, तो

पकड़ में भी नहीं आएँगी। एक तो, यह ऐसे ही, हर नये आदमी से मिलने पर, कुँआरी होने का नख़रा करती हैं, दूसरे खाना दे दो!"

—तूफ़ान बहुत बढ़ गया था। एकाएक रोशनी गुल हो गयी।

—मैं क्रोध और वितिष्णा से काँप रहा था। आज समझ में आया, इसीलिए मुझसे नहीं बोलती, इसलिए पंडित मुँह फुलाए रहता है। बात खुल जाएगी। पता नहीं कैसे मेरे हाथ के झटके से, शीशे के दो जग, झनझना कर ज़मीन पर गिरे और चूर हो गये। मैं आगे बढ़ने लगा, धीरे-धीरे, टटोल-टटोल कर और खाने के कमरे में पहुँच गया। इधर-उधर देखा, सत्ती नहीं थी। खानसामा कोयले के चूल्हे से, मोमबत्तियाँ जलाने की कोशिश कर रहा था।

"सत्ती कहाँ है?" शायद पहली बार मैंने दूसरे के सामने उसका नाम लिया था, उसने हँस कर उत्तर दिया था, "बड़े दिनों पर, उलट कर देखा बाबू!"

"कै आते हैं उसे, हर दम मचली छूटती रहती है। अभी तो यहाँ से गयी है। चूल्हे की मिट्टी लेने आयी थी।"

"मिट्टी क्या होगी?"

"खाती है।"

"क्यों?"

"सोंधी होती है, मन साफ़ हो जाता है।"

—मैं वहाँ से मुड़ा, तो टटोलते-टटोलते सत्ती के कमरे के दरवाज़े से जा भिड़ा। चारपाई चुरचुराई।

"कौन?"

"नहीं...नहीं...मुझे न ले जाओ, मालिक! मैं पैर छूती हूँ,...मैं मिन्नत करती, हाथ जोड़ती हूँ।" और वह फूट-फूट कर रोने लगी।

"बनवारी...तुम ! नहीं, नहीं, मैं मर जाऊँगी । वह खाल उकाचता है, वह मुझे बेहोश कर देता है—बेहोश..."

—फिर कुछ सुनाई नहीं पड़ा । मैं काँपता रहा लड़खड़ाता रहा और न जाने कब, कमरे में आ कर सो गया ।

—सो कर उठा तो मेरा मन बहुत हल्का था । उन सारी रहस्यमयी बातों के उत्तर के लिए, मैं तैयार था । मेरा क्या गया, मेरा क्या बिगड़ा ? मेरी पत्नी है क्या वह ? मैं क्यों जलूँ ? मैं क्यों उदास रहूँ ? भाड़ में जाए साहब और सत्ती । मुझे नौकरी से मतलब, या तूफ़ान से ।

—उसी दिन पहली बार मैंने पंडित की रखी हुई पुष्टई की दवा में एक हबक्का लगाया । आधा दूध पी कर, आधे को पानी से पूरा किया और रसोई के लिए घी निकालते समय, एक लोंदा जीभ पर रख लिया । सब्ज़ी लेने, बाज़ार गया, तो छँटी सब्ज़ियाँ ले कर, कई आने की आमदनी की । इसी तरह फिर, पिटरौल की चोरी में ड्राइवर की सहायता करने लगा । रसोई के बचे सामान को सफलता पूर्वक बेचवा कर, खानसामा से हिस्सा लेने लगा ।

—लेकिन सत्ती, वह क्यों मेरे सामने पड़ती है ? क्यों आख़िर, क्या मतलब है उसका ? और पड़ती भी है, तो क्या हुआ, मैं क्यों सोचता हूँ उसके बारे में ?

सामने पुलिस थाना था ।

मैं सहसा डर गया पर डर किस बात का—किसलिए ? मैंने तो पूरा कर दिया काम—अपना काम ।

—मुझे उस मार का ध्यान हो आया । कितना तेज़ हंटर चलाता था । उसी दिन तो, हाँ, उसी दिन, मैं होश में आया था । मेरा शरीर काँप रहा था । पाँव थरथरा रहे थे । मकान के चारों ओर भयानक

ख़ामोशी छायी हुई थी—मौत की ख़ामोशी। जाने क्या-क्या कहूँगा मैं, जाने किसका भेद खोल दूँगा—सभी थर-थर काँप रहे थे।

—साहब अपनी कुर्सी पर जला हुआ बैठा था।

"और खाओगे दवा ?"

मैं चुप रहा।

"कब से खा रहा था ?"

"कभी से।"

"कभी से, हरामज़ादे !" और उसने एक साँस में पचीसों झापड़ रसीद कर दिये।

"कौन-कौन शामिल है, इन चोरियों में ?"

"मैं नहीं जानता था।"

"नहीं जानता ?"

"नहीं।"

"बनवारीलाल, लगे तो !"

—और थोड़ी देर तक हंटरों की सपसपाहट के बाद, सब कुछ खो गया था। पता नहीं कहाँ था, मैं। लोगों ने बताया, चार घंटे के बाद, तुम्हें होश आया है। बात यह हुई, कि पुष्टई के हलवे की चोरी होते देख, बनवारी लाल ने इसका ठीक पता लगाने के लिए, साहब को जमालगोटे का बीज ला दिया था और वह अमृतबान में, ऊपर ही छिड़क दिया गया था। मैंने जब साहब को दवा निकालने के पहले, हबका लिया, तो थोड़ी ही देर के बाद मेरी हालत ख़राब हो गयी—कै-दस्त दोनो, मैं लस्त हो गया। बनवारी लाल हँसा था, पर पंडित ने कहा, "ठीक हो लेने दो। तब बताएँगे।

—जमादार मेरी चारपाई पकड़ कर बैठा था। मेरे होश में आते ही कहने लगा, "सत्ती बहुत रोती है तेरे लिए सरजू, कहती है, मुझसे

मिला दो उसे, पर पंडित ने आज-कल उसे कड़े पहरे में रख छोड़ा है। बड़ा गड़बड़ लगता है, सरजू!"

—मेरे मुँह में कटोरी से पानी डालते हुए, कहने लगा, "उसके हाथ-पाँव बहुत हल्के पड़ने लगे हैं। बहुत थकी-सी लड़खड़ाती चलती है। आँखें बाहर को निकली पड़ती हैं।"

"मैं कुछ समझ नहीं रहा हूँ, जमादार!"

"भइया, दो दिन से शाम को टुटहिया फोर्ड में एक बूढ़ी-सी मेम आती है। सत्ती बुला कर, जाती है और जाने घंटों क्या गिटिर-पिटिर होती रहती है। बनवारी के मुँह से सुना, 'खत्म न कर दें साली को' पर पंडित कह रहा था, 'बात छिप नहीं सकती। घर के सारे नौकर, गाँव ही के तो हैं और माँ, कुछ न पूछो! मुझे कहीं का न छोड़ेगी। उसे पता लगा, कि मैं गया इस जायदाद से। जानते नहीं पिता जी को। बड़े क़ानूनी आदमी थे। बड़ी बंदिश कर गये हैं।' मेरा तो रोयाँ-रोयाँ सिहर गया सरजू! कोई भयानक बात होने वाली है। मुझसे तो, दो दिन से खाना नहीं खाया जा रहा है। बहुत जी घबड़ाता है, तो उस कोठरी के ऊपर, रोशनदान वाली, छत पर चढ़ कर झाँक आता हूँ। बिस्तर में कलट-कलट कर, 'दादा! दादा!' चिल्लाती रहती है।"

मैं उठ बैठने को उतावला हो रहा था; पर जमादार ने मुझे मना किया। और कहने लगा, "बात यह हुई कि कल शाम, जब वह बूढ़ी मेम आयी, तो मैं ऊपर चढ़ गया। रोशनदान से झाँक कर देखा, तो सत्ती के कपड़े हटा, रुई में लपेट कर, वह कोई दवा उसकी टाँगो के बीच डाल रही थी। दवा डालते ही, सत्ती गाय की तरह डकरने लगी—जैसे कोई मछली पानी से निकाल कर धूप में रख दी गयी हो।

"मेम कह रही थी, 'दर्द अंदर लेने से काम होता है। कड़ा करो जी बेटी, कड़ा कर लो !' उसने दरवाजा खोला, तो साहब और बनवारी अंदर आये, बड़े परेशान दीखते थे। मेम ने कोई खाने की दवा देते हुए कहा, 'इस टिकिया को खिलाने से कै होगी और पेट पर जोर पड़ेगा। हो सके तो पकड़ कर बैठाये रहिए पैरों के बल। आँख की रोशनी कम हो जाएगी, सुनाई कम पड़ने लगेगा, पर घबराने की बात नहीं।' मैं इस अधरम को देख कर, काँप गया। जी में आया जा कर सालों का गला दबा दूँ और सत्ती को उठा ले जाऊँ पर उस कोठरी के आगे वाली गली में, ताला बंद है। कोई उपाय तो लगती नहीं" और जमादार माथा ठोक कर रोने लगा।

—मैं उसे देखता रह गया था और दो महीने पहले का एक दिन, मेरी आँखों में नाच गया था—पीली धोती के बाहर, लटकते हुए काले बालों की लट, कैसे इतनी काली और लुभावनी हो गयी ? हाथ-पाँव कैसे इतने चिकने हो गये ? रंग कैसे इतना निखर आया ? आँखों में ममता का विनय, कैसे भर गया ? माँथे और गले पर, किस सूरज की रोशनी चमकने लगी ? छातियों पर इतना भार कैसे झुक आया ? मैं नहीं जानता था—ओह मैं उसे माँ नहीं समझता था—नहीं समझता था। मैं चारपाई से उठते-उठते गिर पड़ा था और जमादार ने मुझे चारपाई पर लिटाते हुए, खेदू ड्राइवर को आवाज़ दी थी और उसने—जिसे वह दुखों को भुला देने वाली दवा कह कर पुकारता था; मुझे पिला दी थी। थोड़ी पीठ और टाँगों पर डाल कर मलते हुए कहा था, "हम देर में चेतते हैं, सरजू ! पर जब चेतते हैं तो कभी नहीं सोते। तुम चिन्ता न करो। सब देख लेगें।" और मैंने देखा, उसकी आँखों से चिनगियाँ छिटक रही थीं।

—उस दिन कोठी के सारे लोगों के गले में, जैसे मछली का काँटा अटक गया था—सब गुम-सुम। कोई किसी से कुछ नहीं कहता था।

पंडित इधर-उधर चक्कर काट रहा था। बनवारी बार-बार मोटर से बाहर जाता और लौटता। ड्राइवर जाने कहाँ चला गया था।

"क्या हुआ ?" अगर मैं किसी से पूछता, तो सब जैसे उदास मन से, "कुछ तो नहीं" कह कर वापस चले जाते। मालूम होता था, सबों ने कोई सलाह कर रखी है। मैं चारपाई पर लेटे-लेटे ऊब गया था। धीरे-धीरे उठा। पाटी पर हाथ रख कर जमीन पर उतरा और दीवार पकड़ कर बाहर चला गया। चारों ओर सुन-सान, कहीं कोई नहीं।

—रात यही चार-पाँच घड़ी गयी रही होगी पर चारों ओर भयानक खामोशी, दूर से मृदंग और कीर्तन की बड़ी धीमी स्वर लहरी सुनाई पड़ती थी। चारों ओर अँधेरा-गुप्प—बत्ती नहीं जलायी जमादार ने या रात बहुत बीत गयी है, सब सो गये हैं ? मैं धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगा। सत्ती का ध्यान बना हुआ था। इसलिए उसे तो कुछ नहीं हो गया ? पर जमादार दादा तो उसे लड़की की तरह मानते हैं। जरूर कहते मुझसे। मैं धीरे-धीरे बढ़ा। जाने कैसे मैं टो-टो कर बढ़ता-बढ़ता, रसोई की बगल वाली सीढ़ी पर चढ़ कर, छत पर पहुँच गया। देखा तो रोशनदान के पीछे जमादार और खानसामा लेटे हैं—पेटों के बल, जैसे चंडू पी रहे हों। मेरे पैर की आहट पा कर सब के-सब हकबका गये....फिर मुझे पहचाना तो भरोसा हुआ। मैं सोचने लगा, कैसी हालत है हमारी। क्या हम, मर-मार नहीं सकते ? क्या हम, अन्याय का विरोध....और मुझे बनवारी के कोड़े और साहब के झापड़ याद आ गये। मैं उलटे पाँव, लौटने ही जा रहा था कि जमादार ने मुझे पकड़ कर सत्ती को एक बार...उफ् कितना भयानक था, सारा दृश्य। बनवारी उसकी चीखों को दबाने के लिए, उसके मुँह पर कपड़ा लगाए बैठा था और सत्ती तड़प रही थी—जैसे कोई जीवित सिधरी आग में भूनी जा रही हो। उसके दाँतों की किट-

किटाइट और होठों को दबा कर, गले और नाक से साँस लेने में जो हूँ...हूँ...घूँ...घूँ की आवाज़ निकलती थी; उससे सूअर के हीकने पर, निकलने वाली, कराह का ख़याल हो आता था। मुझे पसीना आ गया। शरीर कमज़ोर था, इसलिए उत्तेजना के कारण बेहोशी मालूम होने लगी। मैंने रोशनदान के शीशे पर माथा टिक दिया। सहसा उसके फैले हाथों की मुट्ठियाँ बँध गयीं, जैसे किसी को ज़ोर से पकड़ कर, मसल देना चाहती है। और साथ ही, दाँतों के पीसने की इतनी तेज़ आवाज़ आयी, कि मैंने कान बंद कर लिए।

—इसी समय वह बूढ़ी मेम, खट्-खट् करती अंदर आयी। उसने सत्ती के दोनों पाँव मोड़ कर कुछ फैला दिए, फिर पेट सहलाते-सहलाते टाँगों के बीच हाथ डाल कर, कुछ खींच लिया। खून का एक गहरा हुल्ला आया और सारे बिस्तर पर फैल गया। संसार के मुँह पर, काला नक़ाब पड़ गया। और इन्सान—मेरा इन्सान मर गया। अंगुलियाँ ऐंठी और रोशन दान के शीशे पर, नाखूनों के ख़राश लग गये होंगे—मैं नहीं जनता।

—पंडित उखड़ा-उखड़ा-सा रहता और बात-बात पर खाने को दौड़ता था। क्या सब जानते हैं मुझे। मेरी पोल सबसे खुल गयी? क्यों सबके चेहरे से मुस्कान चली गयी? शायद वह यही सोचता था।

—प्रसन्नता की कोई रेखा तो कोठी में दिखाई पड़ती? प्रेत के स्याह पंखों के नीचे, हम डोल रहे थे। बस एक रोशनी थी, और वह थी, सत्ती। खानसामा उसकी रोटियों में, चुरा कर रखा हुआ घी चभोर देता। अपने लिए छिपा कर रखा, गुदादार गोश्त की हड्डियों को शोरवे में डूबो कर, उसके आगे टाल देता। ड्राइवर फल के झोले, मोटर से उतारते समय, दो बड़े सेव, जमादार की जेब में डाल देता। बूढ़ी भंगिनी भभूत की दो पुड़ियाँ, रोज़ जमादार को थमा देती, "का

हाल है बिटिया की।" और वह उगुलियाँ चटकाते हुए कहती, "मर जाएँ निरबंसिया।"

—रसोइयाँ पंडित गायत्री का जाप करके उठता, और कहीं सत्ती तरकारी काटती मिल जाती तो हममें से सब-के-सब, दुम दबा कर खिसक जाते, "पाप का अन्न खा कर, सब ससुरे पापी हो गये। हरे राम, हरे राम, कहाँ मर गये सब-के-सब साँड़, जो बैठा दिया है इसे सीत में, और मुट्ठी भर किसमिस-छुहारा, सत्ती के हाथों मे थमा कर, उसे खिसकाते हुए, खुद चाकू ले कर बैठ जाते। फिर क्या था, जो उनको काम से छुड़ाने जाता, उसी को सौ गालियों का प्रसाद भोगना पड़ता।

—लेकिन कोई किसी से कुछ नहीं कहता था। सब-के-सब मुँह बाँधे अपने कामों पर जाते, और लौट कर चुप-चाप पड़ रहते। मैं सबको देखता, लेकिन कोई, मेरी ओर नहीं देखता, जैसे सबकी आँखें सत्ती की ओर बही जा रही हैं, और सत्ती! मैंने देखा, आँख ऊपर नहीं उठा सकती। बीच-बीच में आँचल उठाती, आँखों के कोरों को पोंछती और फिर जैसी-की-तैसी। सारे शरीर में दो आँखें और दो छातियाँ... बस इतनी है सत्ती। आँखों से पानी बरसता है, और छातियों से दूध। कई बार कपड़े बदलती, पर बंडी और आँचल भींगे ही रहते।

—रोज़ देर से उठने के कारण, टोकी जाने वाली महरी को जाने क्या हो गया है कि सबेरे, मुँह अँधेरे ही, तेल का बड़ा कोसा ले कर सत्ती के कमरे में बंद हो जाती।

एक दिन चुपके से जा कर, उसके पीछे खड़ा हो गया, तो जमादार से कह रही थी, "सोगहगी धोती रवकत से बुड़ जाती है। बंडी-की-बंडी दूध से भींग जाती है, बबुआ!" जमादार की आँखें भरी हुई थीं। तभी ग्वाला गायें दूह कर, ऊपर आया और बड़ी

बाल्टी, जमादार के आगे रख कर, एक लोटा जमादार के हाथों में देते हुए, बोला "बकेनवा को अलग दूहते हैं। बहुत मज़बूत दूध है... बिटिया को यही देना।"

—महरी जाते-जाते रुक कर बोली, "ना...ना...भइया, अरे बबुआ! यह दाल-दूध देने से, दूध बढ़ जाएगा। फिर बोखार होने लगेगा। आँख-कान दोनों मार गया बेचारी का। हम भूल गये बतावै के। तभी तो इतना दूध बहता है। जब सुरसतिया भवा रहा न, तो दूध ही नदारत। बइद जी ने बताया कि अरहर की दाल पीओ, फिर मार दूध ही दूध। रात-दिन पीए, चुकही न जाने। उसको कड़ी चीज़..."

—मैं यहाँ-वहाँ मारा-मारा फिरता। कब, कौन-सा काम करता; इसका मुझे पता भी नहीं चलता था। सबका मुँह जोहता रहता, पर कोई मुझसे नहीं बोलता, कोई कुछ न कहता। पंडित ऊबा-ऊबा-सा घूमता, जैसे किसी विपत्ति को पार कर लेने का असर टाल रहा हो। नौकरों पर झुंझलाता, पर चुप हो जाता। कुछ कहने की हिम्मत न पड़ती उसकी।

—किसी मेले का दिन था...ड्राइवर चूड़ियाँ अंगुलियों में लटकाये सीढ़ी पर चढ़ते हुए मिला। वह खुश था, "सत्ती कहाँ है सरजू?"

मैं उसी के कमरे से लौट रहा था। सत्ती मुझे देखते ही, खिड़की के छड़ों से सटी पुक्का छोड़ कर, रोने लगी थी। दूसरे कमरे से बनवारी के ठहाके की गूँज सुनाई पड़ रही थी। ड्राइवर चौंका—

"यह कौन हँस रहा है?" उसने दुबारा पूछा। मैंने कुछ भी उत्तर न दिया। हम दोनों खड़े सुनते रहे, फिर जैसे उसका पारा चढ़ गया हो, "अच्छा, देख ली जाएगी।" और वह आँखें निकालता, ऊपर चला गया।

—कैसी लक्ष्मी है वह—मैं सोचने लगा, कि पाप में भी पूजी जा रही है, और मैं ! मैं ही पीछे हूँ, सबसे, मैं ही। मैं जीने से उतर गया। नीचे जमादार एक गुब्बारा और भोंगा ले कर लौटा था, बिना पूछे, यह कहते हुए ऊपर चढ़ गया कि, अभी तो बच्ची ही है, गाँव होता तो उसे भी मेला दिखा लाता।" तभी ज़ोर की घण्टी बजी। मैं लौटा ही था पर घण्टी बजती गयी।

"हरामज़ादे, कमीने, सबको एक डब्बे में भर कर रवाना करता हूँ। हरामखोर भरे हैं इस कोठी में।" मैं सामने था, "क्यों बे हरामी के बच्चे, आजकल सभा होती है, काम-धंधा सब गया।" बनवारी कह रहा था, "कम्यूनिज़्म आ रहा है दुनियाँ में—घर में ही क्यों न आए', और वह ज़ोर से हँसने लगा था। जी में आया आँखें निकाल लूँ, लेकिन साहब की आग-सी जलती निगाह ने फिर मुझे नीचे खींच लिया। मैंने पानी दिया, और पान के कमरे की घण्टी बजा कर लौटने लगा; तो साहब ने कहा, "यहीं खड़े रहो, काम में देर होगी तो चमड़ी उधेड़ दूँगा।"

—सहसा दरवाजे की भड़भड़ाहट हुई। मैंने जमादार को दौड़ कर बताया, तो वह खटिया की पाटी लिए, ऊपर दौड़ा, पर ड्राइवर मोटर का हेन्डिल लिये भागा जा रहा था, उससे लड़ गया और जमादार ज़मीन पर गिर गया। उसकी आँखों के ऊपर से खून की धार बहने लगी। उसने अपने को सँभालते हुए कहा, "देख रहे हो मुँह, अभी ?" और मैं दौड़ा हुआ, ऊपर पहुँच गया। ड्राइवर हैन्डिल ताने खड़ा था। और महरी, सत्ती को अपने पीछे किये, पण्डित की पुश्त-दरपुश्त को सराह रही थी, " चबा जाऊँगी कच्चे, जो आँख उठा के देखोगे इस ओर।" और बनवारी के सिर पर एक लोटा बजा चुकी थी। पण्डित क्रोध से काँप रहा था—नशे में धुत्, उसके पाँव थरथरा रहे थे। मुँह से गाज निकल रहा था। मैंने इधर-उधर देखा; खानसामा बड़ी कलछुल लिए, जमादारिन झाड़ू लिए...तभी पण्डित, महरी पर

झपटा और उसे झोंकते हुए, सत्ती के बालों को पकड़ कर गिरा दिया। ड्राइवर बढ़ा, उसने हैन्डिल ताना, पर पीछे से मैंने हैन्डिल छीन लिया। पण्डित झुक कर सत्ती को घसीट रहा था। तभी ज़ोर की 'फच्...फच्...' मैं नहीं जानता क्या हुआ, मैंने नहीं देखा, पर कई आवाजें गूजती रहीं—

—तुम जाओ, दादा बचा लेंगे...दादा...बड़े बहादुर हैं...उन्हें बताना ..वे कुछ नहीं जानते...कुछ नहीं, कुछ नहीं, डरना नहीं...

—जगेसर भइया का राज है वहाँ...हम देख लेंगे—तुमने थोड़े मारा है, वह तो मैंने...कोई मोटी आवाज़ थी—सम्मिलित और कई हाँथ मुझे सहला रहे थे—कई बातें लड़ रही थी, कई बातें...

"मैं बचना नहीं चाहता, मुझे प्राण की अभिलाषा ? छी: और मैं हँसने लगा— ज़ोर से। शायद पागल हँसते हैं ऐसे और मुझे, स्टेशन पर आकाश की ओर उठी उगुलियाँ याद आ गयीं—छी... छी...थू—थू...

"पागल हो का भयवा, खा रहे हो मन का मिठाई। छूटि जाई डोगी तो राम नाम जपोगे दुप्पहर तक। करार धरे है नदिया।" कोई कह कर दौड़ रहा है आगे। तभी मैं सुनता हूँ, "छूटत है...डोगी ...हो !!! जो आवै, सो दौड़ आवै।" यह मल्लाह की आवाज़ है। मैं दौड़ पड़ता हूँ।

—पितरों की भूमि पर, फफाई हुई, इस गोमती को देखता रह जाता हूँ। बड़ी-बड़ी नदियाँ और समुद्र तक देखे हैं मैंने, पर मिट्टी का ऐसा गौरव—ऐसा भरा-भरा-सा किनारा, ऐसी अमराई की छाँह; मैंने नहीं देखी। हहाती हुई पानी की धार, जैसे आसमान तक लुढ़कती हुई बह रही है। पेड़ों की चोटियों से लड़ते हुए पानी के थपेड़े, शरीर के रोयें-रोयें को कँपा देते हैं। कैसा अद्भुत है यह सब, मैं खो जाता हूँ। लेकिन दौरियों में दही के मटके रखे बैठी औरतों को कौन कहे...

धार बहु नदिया तू धार बहु,
मोरा पिया उतरइ दे पार।

—मल्लाह ज़ोर से गा पड़ते हैं, धीरे बहु ऽऽ...धीरेऽ...धीरे बहुऽऽ...धीरेऽ...। और उनकी ऐंठी हुई माँस पेशियों से ढँकी, काली पीठों पर पसीने की बूँदे, सूरज की पहली किरण में चमक उठती हैं।

काहेन की तेरी नइया रे,
काहे की करुवारि।
कहाँ तोरा नइया खेवइया,
के धन उतरई पार।
धरमै कै मोरी नइया रे,
सत कइ लागी करुवारि।
सैंया मेरा नइया खेवइया रे,
हम धन उतरब पार।...

धीरेऽऽ...धीरेऽ...धीरे बहु नदिया...तू धीरेऽऽऽ। आवाज़ धार पर तैरती है, धार आवाज़ पर, और हिलती हुई नाव, जैसे थपकियाँ देती है।

—पता नहीं कब का, नाव से उतर कर जड़ियार की चौहद्दी में घुस चुका हूँ, पर सोचता हूँ,—दादा से सब बता देना...जगेसर भइया सम्भाल लेंगे। सत्ती, जमादार, ड्राइवर, महरी, लेकिन क्यों जाऊँ बूढ़े के पास। मरने के लिए काफ़ी दुख हैं उसके पास, पर सत्ती के दादा को, जमादार महरी और ड्राइवर के भइया को; देख तो लें—इस मिट्टी के गुमान का अंदाज़ तो ले लें। मैं बढ़ता जा रहा हूँ, पर मन संदेह में है। हवा में डर है यहाँ। पंडित के ख़ून से गाँव पुलिस के जूतों के नीचे आ गया है।

दादा एक टूटी चारपाई पर पड़े हैं—अब उठ नहीं सकते। अंत है, यह उनकी जिन्दगी का। पुलिस ने आग की आँच दिखाई है

उन्हें, जूते सुँघाये हैं और भंगी से उनके मुँह में...ये नरक की यातना भुगत रहे हैं। उन्हें कुछ दिखाई नहीं पड़ता...

"हरे राम हो...प्रभू तू कहाँ हो..."

"मैं कलकत्ता की कोठी से आया हूँ"—पर नाम क्यों बताऊँ?

"कहँवा हो, कहँवा?" हवा में हाथ घुमाते हैं—दो हड्डियों के हाथ, जिन पर सफ़ेद रोयें हैं। बदबू दिमाग़ में भर जाती है—ऊफ़ः!

"सच कहो, सत्ती—सरजू का वियाह हो गया है न?"

मैं चुप हूँ।

"सरजुवा नहीं मार सकता, मालिक की सेवा हमारा धर्म है। रामू का बेटा...मालिक के...? ना, ना। उनके जूती के तरे ही हमारी मुक्ती है। चाहे जो करें, चाहे..." वे खाँसते हैं—करवट नहीं ली जाती उनसे, पर उनकी बातें? मेरा ख़ून खौल रहा है।

"और जो उसने शादी न की हो? सत्ती के साथ कुछ और ही..."

"हम मरती बार यह सुनना नहीं चाहते। मालिक की सेवा ही धरम है। चाहे मालिक जो करे, चाहे सत्ती के मार डाले, और का कहीं। नहीं तो वे हरामी के बच्चे हैं, हमारे नहीं, रामू के नहीं।" बूढ़े के मरे चेहरे पर खून दौड़ आता है। जी में आता है, टीप दूँ गला इसका—झंझट खतम हो जाए।

"हरामी के बच्चे, हिह्...छी..."

उठ खड़ा होता हूँ। जगेसर के पाले हुए कुत्ते के दाँत, कच से पिंडलियों में धँस जाते हैं...

हँसी आती है—ज़ोर की हँसी। हाथ ख़ून की धार को पोंछ कर, आपस में घिस जाते हैं।

'ये हैं आदमी के बच्चे..."

मिट्टी का घोड़ा

मुर्गे ने बाँग नहीं दी और न तो कौवे ही बोले, रामू चाचा की खाँसी और हरखू की खटनही भी नहीं बोली, घर के किवाड़ों पर सिर-पत ने भैंस दुहने के लिए बाल्टी मागनेवाली तीख आवाज़ भी नहीं दी, दादा ने जगने के लिए बच्चों को कोसा भी नहीं और जयराजी ने पुर पर जानेवाले बैलों को छोड़ा भी नहीं, न तो धोती का कछाना मार कर, अपने कंधे में मोटे रस्से से लिपटा हुआ जुआ ही टाँगा पर सुबह हो गयी। यह भी अजीब सुबह है—इसका रंग आठ ही दिन में कितना बदल गया है। फिर वही पुरानी सुबह, कमरे के नीले पर्दों में छिपी हुई, पीली, मुर्दार सुबह—जिसे निर्जीव लोहे की घड़ी अपनी सूखी कड़वी आवाज़ द्वारा बुलाती है और फिर बिजली की रोशनी में वह एका-एक सूख कर सफ़ेद और बेजान हो जाती है। बंशी मशीन की तरह बिना कुछ बोले, जैसे डरता-डरता कमरे में झाड़ू दे जाता है, धाँधू डालडा की मिठाइयाँ रख जाता है और बाजपेई बिरला की मशीनों द्वारा ढले, समाचारों से मन को भिन्ना देता है। क्या उसकी मशीन भी कभी खराब नहीं होती और नहीं तो क्या यह सुबह भी कोई सुबह है—टूटी, भोंडी, सफ़ेद और मुर्दार......

पर आज की सुबह बुरी नहीं, गो यह लोहे की पटरियाँ, पहिये और काठ के डब्बे लगातार इस कोशिश में है कि वे इन दोनों सुबहों को मिला दें, पर अभी इन्हें सफलता नहीं मिली है। ये कार्य रत हैं। देखो न, कितनी तेज़ी से भाग रहे हैं और लगता है, ये स्थिर हैं। वह स्थिर मज़बूत धरती, जो टस-से-मस नहीं होती, भाग रही है, भाग

रही है। नहीं, नहीं, यह महज़ इन पहियों की शरारत है, जड़, होशियार, मशीन...,

लेकिन बाहर इस हल्की भूरी चादर में लिपटे हुए गाँव उसी सुबह की आगोश में डूबे हैं, सराबोर हैं, जिससे मैं भाग रहा हूँ। इन आम के पेड़ों पर और बाँस की कोटों में बैठी वही मैना बोलती होगी। इन कुओं पर वही जयराजी पुर नाधने आएगी और उन गायों का दूध वही सिरपत दुहेगा। फिर रम्हाते हुए बछड़े और हवा में धीरे-धीरे तैरती हुई, बैलों की घंटियाँ ज़रूर बजती होंगी, पर ट्रेन सुनने दे तब न! आखिर यह खामख्वाह बीच में क्यों आ गयी है? शायद यह मेरी शहरी सुबह की दोस्त है और मुझे भुला कर ज़बरदस्ती अपनी सखी के गले बाँधना चाहती है। पीले जवानी में ही बूढ़े दिखाई देनेवाले इन्सान, निर्जीव और पत्थर का-सा दिल रखने वाली काली सड़कें, कैंचियों से तरास कर बुत की तरह घूरनेवाले पेड़ और सुन्न एकाकार और इशारे पर चलनेवाली बत्तियाँ और सैकड़ों-हज़ारों-लाखों न जाने इसके कितने दोस्त हैं।

नन्हे ठंढे हाथ, हाँ, यह बच्चा ही है। सीट के सहारे घूमते-घूमते मुझे दूसरी दुनियाँ से खींच लाया है। कमज़ोर पसलियाँ झाँक रही हैं, पेट बाहर निकला पड़ता है, नाक बह रही है। पर यह बच्चा है। इस बूढ़े आदमी के साथ होगा, जो सुबह ही से खाँसते-खाँसते हाँप रहा है। जो करीब-करीब नंगा ही है। पर बच्चे की देह पर एक कमीज़ है, जिसमें गंदगी ने अलग रंग बना रखा है और नन्हें-नन्हें छेदों ने उसे डिज़ाइन दे रखी है। पर बटन एक भी नहीं; शायद इसकी माँ नहीं होगी। दवा, सफाई, खाना, फिर शिक्षा और नौकरी! नौकरी लायक होगा? अमूमन यह जीने लायक ही न हो सकेगा; पर इसके माँ-बाप और बच्चे के अलावा, माँ यदि होती तो ज़रूर होती, साथ छोड़ दिया होगा! यह आदमी शहरी मज़दूर जान पड़ता है।

शायद साफ़ बोलने की कुआदत का यह शिकार है! एक दिन मिल मैनेजर ने इसे बुलाया और कहा था, "भाई जोखू, हाँ, हाँ...आओ!" उसने कुर्सी की ओर इशारा किया। जोखू साहब की इस दरियादिली पर उमड़ा भी नहीं। बैठ तो गया और कुर्सी पर, साहब के कमरे में; लेकिन मूर्ख कुछ भी जानता तो अच्छा ही होता। मुस्कराता और मुँह के अगल-बगल एक शिकनदार निशान बनाता, फिर हाथों की उँगलियों में एक लाचार शिकन लाता पर यह पत्थर तो पत्थर! साहब ने कहा, "देखो यह जो खाता मास्टर है न, जो नेता है, अब हम तुम्हें वहाँ रखना चाहते हैं" पर जोखू कुछ नहीं बोला।

"डेढ़ सौ पगार है। बस तुम्हें इतना कहना है कि, उसने पगार के दिन तुमसे पाँच रुपये घूस में लिये।" "मेरे मान का नहीं।" वह बाहर निकला और फिर दूसरे दिन से मिल का फाटक उसके लिए बंद हो गया। घर आ कर, जला-भुना ज़रूर होगा और खाना न मिलने पर बीवी ने नाक-भौंह भी सिकोड़ा तो उसे बुरी तरह से पीटा। फिर क्या, वह पुराना दोस्त जो कई बार, अपनी जुल्फों में तेल डाले और कानों में सोने की बालियाँ पहने, उसे बाजू-बरेखी दिखाया करता था, उसकी बन आयी होगी, और यह बच्चा, यह बूढ़ा...

—नहीं नहीं, यह अस्पताल की देन हो सकता है। पर नहीं हास्पिटल के जनरल वार्ड में एडमिशन, बिना शिफ़ारिश......? शायद यह उसी दिन वहाँ गया हो, जिस दिन उसकी बीवी नल से भारी मिट्टी के मटके में पानी भर कर ले आते समय बेहोश हो कर, गिर पड़ी हो और लोगों ने कहा हो "जोखू अब आज-कल में इसे बच्चा होने को ही है।" पर उस दिन भी नहीं, और हाँ, डॉक्टर ने ज़रूर कहा होगा, "कि मुर्दे के लिए यहाँ जगह नहीं है। कहीं श्मशान पर जगह ढूँढ़ो!" और बेहोश लाश को, जब एक सड़ियल एक्के पर ढोता हुआ, जोखू लौटता रहा होगा तो एक कराह

फूटी होगी; मरीज़ के बदन में ऐंठन हुई होगी और उसके दाँत आपस में मिल कर आवाज़ किये होंगे। जोखू घबराया तो होगा ही, और जब उसने मरीज़ का खौफ़नाक पीला मुँह देखा होगा तो उससे उसे डर लगा होगा और उसने एक्के से उतर कर, माँथा थाम लिया होगा। मरीज़ ने टाँग कुछ सिकोड़ी होगी, कराहा होगा और एक अज़ीब सी बदबू आयी होगी। एक्कावान तो बूढ़ा था। जान गया होगा और दूर हट गया होगा। इतना जरूर था कि इशारा कर दिया होगा। जोखू घर आया होगा। फिर बेहोशी। जच्चा ने एक बार बच्चे को चूमा भी न होगा, उसके नरम, सुहावने गालों को अपने सूखे गालों से सटाया भी न होगा; पर बच्चा जीवित है। निसंदेह यह बूढ़ा लगन का आदमी जान पड़ता है, पर क्या इसके चेहरे की गहरी सूखी लकीरें, इसके गूँगे-बहरे भावों के गढ़े हैं? ज़माने की मार ने उसकी कमर टेढ़ी की है? आँखों का पानी, जिसमें जीवन की रोशनी चमकती है; सूख चुका है...?

पर वह तो चला गया; ट्रेन छोड़ कर, मेरे सवालों को छोड़ कर उतर गया। उसकी सीट खाली है—चिकनी, साफ़। लगता है यहाँ कोई बैठा ही नहीं था। पर बुढ्ढा अब भी खाँसता है, उसकी कमर के ऊपर का धड़, हर खाँसी के साथ एक बार हिलती है, जैसे कोई कटता हुआ कमज़ोर पेड़ हर कुल्हाड़े की चोट पर हिलता हो पर वह खाँसी से लड़ रहा था, और रह-रह कर अपनी छाती पर हाथ रखता, उसे सहलता, लड़के को देखता, डब्बे पर निगाह डालता; लेकिन वह ट्रेन से उतर गया। शायद वह नहीं चाहता था कि कोई उसके बारे में जाने—फिर यह घोड़ा, मिट्टी का घोड़ा! जिसके ऊपर की पालिश छूट चुकी है और तीन टाँगे टूट चुकी हैं; किसका हो सकता है? उसी बच्चे का होगा। बूढ़े ने जान बूझ कर, अपनी कहानी का अगला हिस्सा यहाँ छोड़ दिया है। लड़का इसे यहाँ नहीं भूल सकता था, क्योंकि अभी वह इसे भूलना नहीं चाहता

होगा। उसकी चौथी टाँग तो साबित है, वह एक टाँग के घोड़े पर भी तो चढ़ सकता था—बच्चा, अबोध, नादान।

बगल वाली सीट पर वह जवान महिला सो रही है, पर उसका बच्चा जग गया है। उसके हाथ में भी घोड़ा है पर मिट्टी का नहीं रुई का नरम और खुशनुमा। महिला के सीने और घुटने से रेशमी लिहाफ़ खिसक गया है और उसकी गोरी-चिकनी माँस पेशियाँ चमक रही हैं। बच्चा बार-बार अपने घोड़े के मुंह से उसकी छाती पर का कपड़ा हटा देना चाहता है। शायद भूखा है, उसे दूध चाहिए। रह-रह कर स्त्री के सेब के-से गालों पर और केशराशि पर घोड़े को दौड़ा देता है। उसका घोड़ा खुश है, पर वह घोड़ा जो मेरे हाथों में है, इसकी तीन टाँगें टूट चुकी हैं। यह पुराना है, उदास है पर उस घोड़े से मज़बूत है। यह ज़रूर है कि इसने माँ की छाती और गालों पर दौड़ नहीं लगायी, लेकिन यह कड़ा है, खुरदुरा, क्योंकि यह मिट्टी से जो बना है।

अब यह बच्चा इसे देख रहा है, ललचाई आँखों से, शायद इसे माँग ले, पर नहीं वह स्त्री जो है। बच्चे को घूर रही है। बच्चा समझ नहीं पा रहा है पर वह समझा रही है। "वह गंदा है, टूटा है, तुम्हारे लायक नहीं है" पर बच्चा बिदक रहा है, मचल रहा है! वह जानता है कि यह घोड़ा कोई दूसरा खिलौना है।

मैं जान गया कि इस घोड़े की टाँगें कैसे टूट गयीं। सालभर हुआ होगा, जब बूढ़ा मिल की नौकरी छोड़ कर एक साहब के यहाँ काम करने लगा था। वह काम से लौटा होगा, तो बच्चे को अड़ोस-पड़ोस के कई बच्चों के साथ खेलते पाया होगा। हाँ, वह सीधे धुएँ-वाली कोठरी में चला गया और वहाँ भींगी लकड़ियों को जुटा कर, चूल्हा जलाने लगा। इतने में बाहर, बच्चों के चिल्लाने की आवाज़ आयी। उसने देखा तो पड़ोसी का बच्चा अपना मिट्टी का घोड़ा लिए

दौड़ा चला जा रहा है। उसने अपने बच्चे से पूछा, तो उसने कहा "घोला लूँगा" उसने समझ लिया कि यह उसका घोड़ा छीन रहा था लेकिन वह ले कर भागा है और यह रो रहा है। उसने बेरहमी से उसका हाथ पकड़ कर उठा लिया और बच्चा चिल्ला उठा। बूढ़ा पड़ोसी अपने एक हाथ में हुक्का सँभाले, दूसरे में एक सफ़ेद नया घोड़ा लिए आया और कहने लगा, "आ मुन्ना ! अरे ओ मुन्ना ! ले, ले जा बेटा !" और बच्चा बाग़-बाग़ हो गया होगा।

पर गलती यह हुई कि बूढ़ा बाद में मुन्ना को भी साथ-साथ काम पर ले जाने लगा क्योंकि अब मुन्ना चलने लगा था। एक दिन वह मोटर के नीचे आते-आते बचा तो मोटरवाले ने जो कोई बड़ा शरीफ़ था, बेचारे ने मोटर से उतर कर, जाँच-पड़ताल की और जब बूढ़ा मिल गया तो कुछ ज़्यादा नहीं, यही दो-ढाई सौ गालियाँ सुनाईं। बूढ़े ने उसके जाने के बाद सारी गालियों का बदला, बच्चे से ज़रूर ले लिया होगा। दूसरे दिन से उसने उसे घर में बंद करना शुरू कर दिया। पर पहले दिन जब वह लौटा होगा तो बच्चा रोते-रोते थक कर बेहोश हो गया होगा। उसकी आँखें सूजी रही होंगी और दूसरे दिन से उसे साथ काम पर ले जाने लगा होगा।

पर साहब की बेटी और मुन्ना के घोड़े से जान-पहचान, फिर अदला-बदली हुई और जब, साहब की पत्नी ने अपनी बच्ची के हाथ में मैला-सा घोड़ा देखा तो, पहला काम यह किया होगा कि, बच्ची के हाथ से बच्चे का घोड़ा छीन कर, फेंक दिया होगा। बच्चे के हाथ से नरम-नरम रूई का घोड़ा छीन कर, उसे एक झापड़ दिया होगा। बच्चे ने रोते हुए अपने घोड़े के पास पहुँच कर उसे उठाया होगा। उसकी तीन टाँगें ज़मीन पर ही पड़ी रह गयी होंगी। वह फूट-फूट कर रोने

लगा होगा, और अपने होठों से घोड़े को सटा लिये होगा; जैसे उसे अपने मारे जाने का नहीं, घोड़े की चोट का बड़ा क्षोभ हो।

"आखिर उसे छू ही लिया। मना कह रही थी, माना नहीं! डर्टी, बदतमीज़!" बच्चा बीच में मेरे पास से घोड़े को उठा ले गया था, औरत बच्चे को डाट रही थी और उसने एकाएक उसके हाथ से घोड़ा छीन कर ट्रेन की खिड़की से बाहर फेंक दिया। मेरे मुँह से अचानक एक चीख़ निकल पड़ी पर फिर ध्यान आया, तो औरत, पहले तो शरमा गयी, उसके गालों पर सफ़ेदी दौड़ गयी पर फिर वह मुस्कराने लगी, लज्जा और क्षोभ नहीं, एक शरारत—जिसमें आदमी की बेवकूफ़ी की तरफ़ इशारा था—उसकी आँखों में उभर आयी।

वह मिट्टी का खिलौना, मिट्टी में मिल चुका था? मैंने डिब्बे से बाहर झाँका, सुबह बीत रही थी......लेकिन सिरपत ने भैंस दूहने की बाल्टी नहीं माँगी। रामू चाचा की खाँसी और हरखू की खटनही नहीं बोली, जयराजी के बैलो की घटी की आवाज़ नहीं आयी और सुबह बीत गयी; यह भी अजीब सुबह है।

—वह बूढ़ा ट्रेन से उत्तर गया था। उसकी सीट खाली थी, जैसे वहाँ कोई बैठा ही नहीं था और वह औरत कनखियों कुछ देख कर मुस्करा रही थी......

अगली कहानी

कल तक जो कुछ हुआ है, उसे अनकहा ही मानिए, क्योंकि उसमें कोई भी ऐसी सलीक़े की बात नहीं थी, जो आपके मन को रिझा सके। ढंग की कटी-छँटी बात न सही, कोई रूमानी घटना ही होती, या होते-होते रह जाती, या सम्भावना के ही रूप में रह गयी होती, तो शायद भूमिका में पकड़ आ जाती, लेकिन वह भी नहीं। रही किसान-मजदूर-आन्दोलन की कथा, सो वह गरज भी इन लेखकों की क़लम से बिल्ली की म्याऊँ बन कर रह गयी। आख़िर कान ही बेचारे क्या करें, तड़प, तूफ़ान और हाहाकार के वे इतने आदी हो गये हैं कि 'ध्वन्यालोक का प्रणेता' अपने सिद्धान्त के खोखलेपन से खीझ कर सिर पटकता होगा ! लेकिन, चलो, अच्छा ही हुआ, जो उसे ध्वनि और रस का महत्व तो मालूम हो गया। कुल मतलब यह कि कल तक के 'जो देखा, सो कहा' से लोग परिचित हो गये हैं, इसलिए कह रहा हूँ कि उस कथनी को अनकही ही जानिए।

इन सारी बातों से यह बहुत स्पष्ट हो जाता है कि कथावस्तु की समस्या आज मेरे सामने नहीं है, और न उसे ढूँढ़ने के लिए गलियों की ख़ाक ही छाननी है; क्योंकि हमारी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी इतनी भावशून्य हो गयी है कि अब दफ़्तर के बाबू पर साहब की डाँट का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। न तो बाबू मन से काम करता है, न साहब मन से डाँटता है। रही ग़रीबी, भुखमरी की बात, वह भी इतनी व्यापक हो चली है, जैसे मध्यमवर्गीय घरों में औरत-मर्द का झगड़ा।

बच रही प्रणय-चर्चा, वह भी अब अनुभूत विषय नहीं रही और उसकी पिछली कहानियाँ भी अब 'सेकेंड हैंड' अनुभूति हो चली हैं;

क्योंकि आलोचक की माँग है उस जीवन से सजग सम्पर्क की, जिसकी कहानियाँ लिखी जानी हैं। तो फिर उसकी चर्चा भी अनायास ही होगी। मसलन, कथानक के लिए आमने-सामने की दो खिड़कियों को ले लिया जाए, जिनमें एक तरफ़ कोई युवक और दूसरी तरफ़ कोई युवती खड़े-खड़े घंटों पहरा दिया करते हैं। यह संयोग की ही बात है कि घरों में परिवार रहते हैं और परिवारों में युवक-युवतियाँ, और इनका इस तरह घूरना, तरेरना, समय बिताना, यह सब कोई खास बात नहीं, और न ही इससे कोई प्रेरणा ही मिलती है; अलबत्ता इससे कथानक को खाद ज़रूर मिलती है। लेकिन इनमें कोई क्लाइमेक्स नहीं होता; ऐसी जाने कितनी घटनाएँ आँखों में आती हैं और फिसल जाती हैं। फिर यह सब बासी-सा लगता है। अनकही-सा रस है इसका—कुछ फीका-फीका !

लेकिन, अगर किसी धोबी के छोकरे को ले लें, जो घर पर आ कर बड़े मजे में कपड़ा लेता-देता है, और अभी-अभी इंटर की परीक्षा में बैठने वाली घर की भोली बच्ची जब उसे कपड़े देती, गिनती और लिखती है, तो उससे दो बातें बन जाती हैं। एक ओर निम्न वर्ग का प्रतिनिधित्व हो जाता है, कहानी में और दूसरी ओर बड़े घर की लड़की की शर्मीली अदाएँ पाठक के मन में उतरने लगती हैं। फिर बॉडी और कमीज़ की संख्या गिनते हुए, दोनों की मौन मुस्कराहट जैसे कुछ नयी लगती है; पर यह भी ऐसी चीज़ नहीं, जो सचमुच नयी हो। हाँ, दोनों का किसी एक दिन एकाएक घर से ग़ायब हो जाना कुछ कुतूहल उत्पन्न करता है; क्योंकि निम्न वर्ग का साहस और उच्च वर्ग का उत्सर्ग एक स्थल पर मिल जाते हैं। लेकिन इसमें एक ख़ामी है; यह घटना साहित्य की नहीं, पत्रकारिता की चीज़ बन जाती है। दूसरे यह कि उसका लेखक न तो धोबी का बच्चा है, न बाबू की बच्ची। इसलिए अनुभूति उधार-ओछी, साहित्य के लिए निकृष्ट ही होगी।

इस सबका, जो मैं कह रहा हूँ, कोई खास सिलसिला नहीं होता। कहानी के लिए किसी खास ब्योरे की भी ज़रूरत कहाँ रही अब? किसी भी ढंग की, किसी भी बात को, कैसी भी परिस्थिति में क्यों न हो, कहानी कह दिया जा सकता है। गहरे उतरने पर, साहित्य का आधार, जीवन भी तो सिलसिले से खाली ही मिलता है। उदाहरण के लिए मज़दूर मज़दूर ही नहीं है, वह अपने वर्ग का सफल लेखक भी है, चित्रकार भी है, नेता भी है और प्रेम कथाओं का हीरो भी। वह नेकर-कमीज़ भी पहनता है, कुर्ता-पायजामा और जैकेट पहन कर, टोपी भी लगा लेता है। कभी उसके बाल साफ़ हो जाते हैं, तो कभी बढ़ कर जैसे बया का घोंसला। कभी वह धीरे से बोलता है, तो कभी गरज कर आकाश को भी कँपा देता है। घंटे में दो-दो बार, दिन में बीसों बार, बीसों रूप हैं, 'प्रभु अनन्त प्रभु-कथा अनन्ता'। मनुष्य अध्यापक है, कवि है, विचारक है, नेता है, हीरो है। कहीं वह गाता है, कहीं रोता है, कहीं हँसता है, कहीं बिल्कुल सत्य कहता है, तो कहीं बिल्कुल झूठ। कहीं वह मर्यादा के लिए वाल्मीकि-व्यास बन जाता है, तो कहीं पैसे के लिए चाटुकार।

तो फिर सिलसिले पर बहुत ज़ोर देना ज़रूरी नहीं। यह तो युग-सत्य है, और युग की छाया साहित्य पर होनी ही चाहिए। रही असामान्य चर्चाओं द्वारा कथा-रस पैदा करने की कला, सो तीतर और बटेर लड़ाने वालों की अनोखी बोलियों से ले कर, बंदर और भालू नचाने वालों के वस्त्रों और गाँव की कोलियों में दो मुट्ठी दाने पर, कान की खूँट निकालने वाले नटों की टोपियों तक में फैली हुई है। इस विशेषता का आग्रही पुराना नर्तक भी अपने भस्म-स्तूप पर जमुहाई लेता सोचता है, "काश ये लम्बे बाल न रखाये होते! अब तो इन्हें मुड़ा देना भी अनुचित होगा!"

इसीलिए सोचता हूँ कि असामान्यता बाद में खलती है, सोच में

डाल देती है कि कैसे सब किये-कराये पर पानी फेर दें ? शायद इसी-लिए आलोचक सामान्य जीवन के साथ तो नहीं, पर पास रहने की सलाह देता है, जो उसके लिए पास से भी इतर हैं, क्योंकि उसका साहाय्य तो कृतिकार है, कृतित्व है, उसकी खाद नहीं। और वह भी सामान्य कृतित्व नहीं, क्योंकि उसके बहुमूल्य समय से खिलवाड़ करने का हक़ भी किसी को कहाँ ? 'अजगर करे न चाकरी...।'

तो सामान्य जीवन से ही कोई बात निकालनी चाहिए; क्योंकि बुज़ुर्गों का अनुभव भी तो यही बताता है। रवि बाबू और रोम्याँ रोलाँ की वयोवृद्धि ने भी उन्हें यही सिखाया था। इसलिए विशिष्टता की खोज कहानी का धर्म नहीं है। चाहे कोई पढ़े, या न पढ़े, पर कोई लेखक अपना धर्म कैसे छोड़ सकता है ? लेखक लेखक ही नहीं, मनुष्य भी तो है।

लेकिन, फिर जो समस्या उठी, उसका कोई हल नहीं सूझता। इस भीड़ के चेहरों में कोई ऐसा कथारस नहीं। यह सब जैसे इकहरे हैं, एक ही तरफ़ जाते हुए और एक ही तरह की बातें करते हुए। मैं तो इन्हें कब से देखता हूँ। जब यह पहले मिले थे, इनके दाँत सफ़ेद थे,—दूध से धौत, फिर कुछ लाल हुए और अब तो ये काले पड़ गये हैं; क्योंकि पहले दूध, फिर पान, फिर तंबाकू-बीड़ी का इन पर प्रभाव पड़ा। बड़ा अंतर है इन सबमें, और यह चक्कर बड़ा परि-चित है, कोई नयापन नहीं है इसमें। लेकिन वह क्रम ऐसा ही क्यों है ? काश, पहले इनके दाँत काले रहे होते, फिर लाल होते, और फिर दूधिया हँसी इनके अरुण चेहरों पर खेलती होती ! तब शायद इनमें रस बढ़ता, कुछ नयापन आता।

लोग कहते हैं कि प्रकृत-मनुष्य में विकास होता है। अपनी आँखों से मैंने प्रकृत-मनुष्य में घटती ही देखी है। सेठ बाँकेमल का बचपन मुझे याद है, जो बाईस वर्ष की उम्र में मातृ-रक्त से अपना

हाथ रँग कर, बंकिमलाल से बाँकेमल हो गये हैं, मीनाक्षी मराछी बन कर, नून-तैल बेचती है; और बोधन साँईं, बुद्ध भठियारा बन गया है; यह सिकन और सलवटों की पहचान नहीं, प्राण की परख मानी जाए, तो हमारा युग सामान्य घटती पर ही है। ठीक निर्जीव की तरह, जीव में विकास की सम्भावनाएँ कम ही लक्षित होती हैं। हाँ, वह अपनी जाति की संख्या ज़रूर बढ़ा रहा है, पर वह भी निकम्मी, रुग्ण और मरणासन्न।

यह सामान्य जब तक किसी विचित्र घटना से रंजित नहीं होता, हमारे काम का कहाँ ठहरता है? और मुझे भी तो आपके सामने कल से हट कर, एक नयी कहानी कहनी है, जो अनकही हो—कुँवारी। इसलिए, यह पार्क, जहाँ बैठ कर मैं ध्यानावस्थित-सा हो चला हूँ, यदि तेज़ी से चक्कर काटने लगे, या एकाएक पाताल में धँस कर, फिर ज़मीन से हिमालय की तरह उठ जाए, तो शायद मुझे कोई बात कहने का अवसर मिल जाए!

यह बूढ़ी बेंच! मुझे याद है, जब इसकी जवानी थी, मेरी लालसा भी तब ऐसी ही थी। जिज्ञासा तब बूढ़ी नहीं हुई थी, इच्छा मरी नहीं थी, जोश ठंडा नहीं हुआ था। बीस वर्ष हो गये, पर यह नौस्टेर्शियम, यह डेलिया और हॉलीहाक्स वैसे ही हैं। हर जाड़े में इनकी शोभा होती है, वैसी ही सुंदर, कुछ सुंदरतर ही। पर अब यह मुझसे बोलते नहीं; क्योंकि यह भी अब बड़े सामान्य हो गये हैं। कभी इस पार्क को ले कर भी कहानियाँ बनी थीं। अंग्रेज़ मेमों के लिपस्टिक से इसकी शामें गाढ़े लाल रंग में रँग उठती थीं और गोरे साहबों की मज़बूत कलाइयों में, उनकी पतली कमर फिरहिरी-सी नाच उठती थी। लेकिन यह सब बहुत पुराना है, बार-बार का जुठारा हुआ, उच्छिष्ट, और फिर इसमें सामान्य तो कुछ भी नहीं।

बात बनती नहीं दीखती; शायद आज मैं आपसे कुछ भी न कह

सकूँ। समय ज़रूर ले लिया थोड़ा, पर मैं भी तो कब से, सिर खपा रहा हूँ। कितने लोग आये-गये, पर मैं जैसे पत्थर-सा जमा हूँ। बच्चों की चुस्ती ने माली की आँखों में कितनी बार धूल झोंकी, पर एक बार भी मुझे हँसी नहीं आयी। युवती की आँखें टेढ़ी हुईं और युवक जैसे कुछ डरते-डरते खिसक गया, पर मैंने उन्हें देख कर भी नहीं देखा। अब वे किसी लता के झोंप में छिपेंगे, पर मुझे इससे क्या ?

बीड़ी-यूनियन की कार्यकारिणी के सदस्य भी अभी घास की इन्हीं फुनगियों पर क्रान्ति बिखेर कर गये हैं; पर यहाँ तो कोई रक्त-बिन्दु नहीं, अलबत्ता घास कुछ दुखी ज़रूर लग रही है—दबी-दबी-सी, जैसे यही उनकी मालिक हो। फिर भी, यह प्रकृत वस्तु की प्रतिनिधि है, सीधी तो हो ही जाएगी। लेकिन मेरी कहानी कहाँ बनी ? कहाँ क्लाइमेक्स आया ? कहाँ कोई नयी बात मिली ? तब फिर अगली गोष्ठी का क्या होगा ? और आलोचक...मैं सोच ही रहा था कि मेरी गर्दन के पिछले भाग में तेज़ दर्द हुआ, जैसे किसी ने आग का अँगीठा रख दिया हो। मैंने ज़ोर से उस पर हाथ दे मारा, और हाथ में भरी हुई मधुमक्खी आ गयी, जैसे एक सामान्य-पर्दा खुल गया हो। मैं उठ खड़ा हुआ। पाँव थरथराने लगे, तो मैंने बेंच पर हाथ रख कर अपने को सँभाला।

मुझे अपने बुढ़ापे का स्मरण हो आया। कितना असाधारण हो गया था मैं अभी-अभी, और जैसे शोख़ हँसी से भरी हुई हवा मुझे गुद गुदाती हुई निकल गयी। जुही की शर्मीली कली-सा, प्रतिपदा का चाँद मेरे आगे से गुज़रा, और मैं धीरे-धीरे घर की ओर चल पड़ा।

जब पार्क से बाहर निकला, तो रात गहरी हो गयी थी। चाँद अशोक के गुंफित वृक्षों के झमेले में, किसी मासूम बच्चे-सा खेलने लगा था, और उसकी कटावदार रुपहली पत्तियों ने चाँदनी को महीन कुहासे में बदल दिया था। मेरी निगाह भी बदल चुकी थी। बगल

में देखा, तो रात की रानी के हाथ में बहुत नन्हीं बिन्दियों वाली फुलझड़ी हिल रही थी। मेरा मन हल्का हो चला। पग-पग पर नयी अनुभूतियाँ, जैसे बाल-मराल पर चढ़ कर आतीं और साथ चलने लगतीं। मैं सँभाल नहीं पा रहा था, क्या रखूँ, क्या छोड़ूं। तब तक बिल्कुल फाटक पर पार्क की ओर मुँह किए एक रिक्शा दिखाई पड़ा। सोचा, कोई कहीं जा रहा होगा, पर उसी समय गर्दन पर पर-पराहट बढ़ गयी। मैंने हाथ से सहलाया, तो लगा जैसे इस हल्के-से असामान्य दर्द से मैं कितना सामान्य हो उठा हूँ! यह जरूर किन्हीं प्रेमी-प्रेमिकाओं की जोड़ी होगी! नगर के कोलाहल से बच कर, प्रेम-चर्चा के लिए इससे बढ़ कर, कहाँ स्थान मिलेगा? मैं चलता रहा। अब बनैले गुलाबों की झाड़ियाँ पीछे छूट रही थीं और श्यामलता के छोटे-छोटे कई कुँज आगे थे। सोचा, बढ़ जाऊँ, पर रिक्शा बिल्कुल आगे था। उत्सुकता हुई, देखा, यह अकेली क्यों?

रोमी मेरे पड़ोसी ठाकुर साहब की अकेली कन्या है। दुलारी है, इसलिए जो चाहती है, करती है। कोई रोक-टोक नहीं। रहन-सहन पर बड़ा पैसा खर्च करते हैं, बेचारे। जो चाहेगी, वह तो कर ही देंगे। कभी बड़े-से-बड़ा अपराध करने पर अपने इस उन्नीसवें वर्ष में भी, जब बच्चों की तरह आवाज़ बना कर, रोमी बाप की गोद में बैठ जाती है, उनका सारा मलाल धुल जाता है। बेचारे अक्सर कहते हैं, "क्या करूँ, कुछ भी कहना इसके लिए बुरा होगा। माँ भी नहीं रही और अभी तो बच्ची भी है, इसलिए, हेयर ड्रेसर लगा रखा है।" कपड़े-लत्ते के लिए इलाहाबाद का सब से नामी दर्ज़ी प्रायः उसके कमरे में बैठा रहता है। कभी सलवार की पट्टियाँ बनती हैं, तो कभी कमीज़ पर मशीन के क़सीदे कढ़ाती है। कभी कमर से कुर्त्ता कुछ ढ़ीला है, तो कभी वेस्ट ठीक नहीं पकड़ता, और वह बेचारा दर्ज़ी हफ़्ते में दो-तीन चक्कर तो लगाता ही रहता है। नाखून की कटाई, भौंह की बनावट, सब में रोमी एक ही है। प्रायः लड़कियाँ उसका

रोब मानती हैं। मैं बहुत पास आ गया था। देखा, पीछे सड़क वाली दूकान से एक साहब जल्दी-जल्दी रिक्शे की ओर बढ़े आ रहे हैं शायद सिगरेट लेने लगे थे, मैंने सोचा, पर शक्ल पहिचानी नहीं लगती। फिर रोमी तो संजय के साथ ही ज़्यादा घूमती है और संजय भी तो कहता था न...मेरा कुतूहल बढ़ा, इसलिए यह निश्चय कर लेना ज़रूरी हो गया कि यह रोमी ही है या कोई गैर, मैं पास तक चला गया। रोमी बड़ी प्रसन्न सी, रिक्शे से बाहर आ गयी और मेरे कुछ पूछने से पहले ही बोल उठी, "इतनी रात इधर कहाँ, दा! आज कल घूमने ही में समय खराब कर रहे हैं! मैं तो माता जी से शिकायत करने वाली थी कि बड़े दा गूँगे होते जा रहे हैं, पर चलो अच्छा हुआ, जो मिल गये..." तब तक वह युवक रिक्शे के पास पहुँच गया था। रोमी ने जूते की आवाज़ से ही जान लिया, और फिर बात बढ़ाते हुए कहने लगी, "यह बसन्त भैया हैं, मेरी मासी के लड़के। आज ही आये हैं लखनऊ से; इसलिए सिनेमा चली गयी थी। इन्होंने कंपनी बाग़ नहीं देखा था; कहने लगे—देखता चलूं तो क्या हर्ज़ है—"

'कोई हर्ज़ नहीं, रोमी? पर देर हो गयी है। शायद पुलिस वाला मना करे, फिर भी इन्हें दिखा तो देना ही चाहिए।" और मैं उनको नमस्कार करके आगे चला आया।

क्षण-भर को फिर मैं अपनी अगली कहानी का सूत्र खोने लगा कुछ उलझा-सा हो गया सब, और फिर मेरे मन में रोमी का वर्तमान न रह कर, भूत घिर आया।

संजय रोमी के बाप का किरायेदार है। पहले साथ में और भी कई लोग रहते थे, पर जब रोमी के बाप ने छोटा मकान छोड़ कर, इस मकान में रहने का निश्चय किया, तो सारे किरायेदारों को घर छोड़ कर अलग होना पड़ा। बेचारा संजय भी परेशान हो गया।

एम० एस१-सी० पहले दर्जे में पास किया है उसने, पर दुनियाँ का एक भी दर्जा तो नहीं देखा। जब ठाकुर साहब को पता चला कि जाति-बिरादरी का लड़ा है, सुंदर है, आगे आशा भी बड़ी है, तो उसे मकान का एक सबसे अच्छा कमरा दे दिया और रोमी इससे बड़ी प्रसन्न हुई।

पहले संजय को कुछ परेशानी हुई, क्योंकि 'आई-टू-आई' या 'फ्लाइंग किस' का मतलब वह नहीं जानता था, 'न्यू पिंच' पर वह ऐसे चौंक पड़ता, मानो बिच्छू ने डंक मार दिया हो। पर रोमी ने धीरे-धीरे पढ़ाया, गुरु की तरह रोमांस और प्यार के दार्शनिक और सैद्धान्तिक पहलू का ज्ञान कराया। संजय को पैसों की कमी पड़ने लगी। सिनेमा देखना बढ़ा, और कभी-कभी काफ़ी और बार तक भी रिक्शे पहुँचने लगे।

संजय ने कई बार बताया कि उसे चार-एक दिन के लिए बाहर जाना है; पर रोमी नहीं मानती, "तो फिर मैं भी चलूँगी साथ।" और वह उसके घुटनों में मुँह छिपा लेती, "तुम कुछ भी नहीं समझते, संजय! मैं चार दिन तक कैसे रहूँगी?" और संजय बड़े प्यार से अपना आग्रह वापस ले लेता, "यह तो तुम्हारी ही मर्ज़ी की बात है, रोमी! मैं कहाँ जा रहा हूँ, उठो चलो, तुम्हारा मन भारी हो गया है, ज़रा घूम आएँ।" और वे कभी काफी-हाऊस, कभी किसी चाय-घर, या सिनेमा में जा बैठते।

एक दिन संजय बड़ा उदास-सा आया, और जैसे किसी बड़ी मानसिक अतृप्ति में डूबा हुआ, मेरे कमरे में बैठ गया। मैंने पूछा, तो कुछ बोला नहीं। फिर थोड़ी देर बाद, अपनी घुटन का पर्दा उतार फेंकने के लिए कहने लगा, "मैं रोमी को जब कभी-सिविल लाइन्स ले जाता हूँ, तो वह उस दर्ज़ी के यहाँ ज़रूर जाती है। कभी-कभी तो दोनों हँस कर बातें करते हैं, और कभी-कभी वह यह

कह कर अंदर चली जाती है कि मैं अभी आयी, और मैं घंटों बाहर इन्तज़ार करता हूँ।

"अक्सर वह किसी-न-किसी कपड़े का बहाना बनाती है, या मुझसे कोई कपड़ा खरीदवा लेती है। फ़िर उसे कटाने, सिलाने, या कोई नया तर्ज़ समझाने की बात बना बैठती है। मुझे तो बड़ी घुटन होती है, बुरा भी लगता है। कहां लड़कियों के कपड़े इस तरह सिले जाते हैं ? न तो नाप के लिए कोई कपड़ा ले जाती है, न..." कहता-कहता वह रुक गया।

"अरे उस दर्ज़ी से ठाकुर साहब का बड़ा परिचय है, भाई ! इतने दिनों में तुमने इतना भी नहीं समझा ! वह हर मौक़े पर इनके घर आता-जाता रहता और खाता-पीता है। रोमी को बहुत मानता है। इनमें और कोई बात नहीं, पर आज ऐसा क्या हो गया ?" मैंने बड़े हल्के ढंग के पूछा।

संजय कुछ चिढ़-सा गया था। बड़ी झुँझलाहट के स्वर में बोला, "यह तो मुझे बेहद नापसंद है कि कोई इस उम्र की लड़की, किसी ऐसे आदमी से, इस तरह मिले-जुले। आज मैं करीब पाँच बजे उसे ले कर सिविल लाइन्स गया। उसने मुझे पाँच मिनट बाहर इन्तज़ार करने को कहा और उसके साथ अंदर चली गयी, घंटे भर तक नहीं लौटी। बीच ही में एक लड़का मिठाइयाँ ले गया, बिस्कुट ले गया, चाय ले गया और मैंने पूछा, तो बड़े गंदे ढंग से हँस कर कहने लगा, 'कब तक खड़े रहिएगा बाबू, अपना काम देखिए।"

"मैं उसे छोड़ कर लौट आया, और सोचता हूँ, आज यहाँ से चला जाऊँ, सो तुमसे कहने आया था।" और वह उठ खड़ा हुआ। मुझे हँसी आ गयी, "संजय ! यह सब बड़े पेचीदा मसले होते हैं,

भाई ? ठीक समझ कर ही चलना चाहिए; क्योंकि ग़लतफ़हमी होने का बड़ा डर रहता है।" संजय कुछ रुका, वह रुकना चाहता भी था। मैंने बात बढ़ायी, "उससे पूछ तो लो, शायद कोई बात रही हो !"

संजय उस समय शान्त हो गया। बाद में उसने बताया, "रोमी उस दिन बड़ी दुखी थी। बहुत रोती रही, कहती थी कि मुझे उस पर इस तरह शक नहीं करना चाहिए। उसी दूकान के पीछे उस दर्ज़ी की पत्नी और बहिन भी रहती हैं। उन सबो ने किसी भी तरह उसे आने ही नहीं दिया। उसने बहुत कहा, पर वे मानी नहीं।"

फिर मुझे एकाएक बसंत का खयाल हो आया और कंपनी बाग़ की दर्शनीयता से ले कर, संजय और रोमी की सारी घटनाएँ मन में उतर गयीं। रोमी आज कितनी खुश थी। अभी चार ही दिन तो हुए संजय को गये, और कल ही ठाकुर साहब कह रहे थे कि यह रोमी संजय से इतनी हिल गयी है कि लगता है बिना उसके नहीं रह सकती। उस दिन बड़ी दुखी थी, खाना तक नहीं खाया इसने, पर आज तो...मैं सोच ही रहा था कि पीछे से रिक्शे की घंटी बजी। सड़क का मोड़ था। मैंने अपने को सँभाला, फिर सोचा शायद बसंत और रोमी हों, इसलिए बगल-बगल चुपचाप चलने लगा, पर रिक्शा रुक गया, देखा तो संजय !

"तुम लौट आये क्या ?"

"हाँ, इसी गाड़ी से तो, तुम्हें पता नहीं क्या ? मैंने तार तो भेज दिया था। रोमी स्टेशन पर भी नहीं आयी, बीमार तो नहीं हो गयी ? मैं तो घबरा गया; स्टेशन पर बहुत ढूँढ़ा, पर कहीं दिखाई नहीं पड़ी।"

मेरा मन बड़ा दुखी हो गया, पर क्या कहता उससे, "नहीं, मैंने तो ऐसा नहीं सुना, अच्छी ही होगी। कोई काम आ गया होगा। और कहो, अच्छे तो रहे ?"

"हाँ, अच्छा तो रहा; पर, न जाने क्यों, मन नहीं लगा, रह-रह कर अनिष्ट के बड़े भाव मन में उठे इस बार!" वह रास्ते पर चलते हुए बात करता रहा, फिर कहने लगा, "बैठ न जाओ रिक्शे पर तुम भी, चले चलें?"

अब घर पास ही था, करीब एक फ़र्लांग के। हम लोग जल्दी ही पहुँचे, तो वहाँ एक अजीब तमाशा दिखाई दिया। ठाकुर साहब गुस्से मे बकते जा रहे थे, "निकालो यहाँ से बदतमीज़ को? छोटे आदमियों को मुँह लगाने से यही होता है..." और घर के तीन नौकर उस दर्ज़ी को पकड़ कर ज़बर्दस्ती घसीट रहे थे। वह भी चिल्ला-चिल्ला कर कहता था "इज़्ज़त वाले थे, तो क्यों दो-दो घंटे दूक़ान में अकेली छोड़ आते थे? घर से इसलिए तो भेजते थे कि कपड़े बनते रहें, सिलाई न लगे! दिया है एक पैसा आज तक? हज़ारों का हिसाब होगा, मैंने जाने कितने कपड़े अपने पैसों से ख़रीदे और सिले हैं।"

ठाकुर साहब गरज रहे थे, "पीटो साले को, ख़ूब पीटो! इस तरह की बातें बकता है!" और नौकर उसे घूँसे-झापड़ लगाने लगे।

संजय तो जैसे काठ हो गया; पर मैंने रिक्शे से उतर, नौकरों को रोका। उसके कपड़े फट गये थे। और माथे के पास से ख़ून भी निकल रहा था। मैंने ठाकुर साहब को समझाया। पर वह बकता रहा, "यह कौन नहीं जानता इस शहर में कि मेरा उससे सम्बन्ध है। सारी सिविल लाइन्स जानती है। पाँच वर्ष से लगातार मैंने उसके सारे शरीर को देखा, नापा, क्या-क्या नहीं किया?" और उसने संजय की ओर इशारा करते हुए कहा, "एक दिन यही बाबू ले गये थे, तो दो घंटे मेरे साथ रही। कहती थी, बहाना बना देगी कि मेरी औरत से बातें कर रही थी। मैंने उसी के लिए तो बिवाह नहीं किया, मेरे औरत नहीं, और दूकान के पीछे घर कहाँ है?"

मैंने उसे डाँटा, तो वह चुप हुआ। फिर पूछा, तो ठाकुर साहब

ने बताया कि "आज शाम चार मर्तबे यह आया, और बार-बार यही पूछता रहा कि रोमी कहाँ गयी है। जब मैंने कहा कि घूमने गयी है तो कहने लगा, 'किसके साथ गयी है, क्यों गयी है?' इस पर मुझे बड़ा गुस्सा आया। मैंने,इसे डाँटा, तो मुझसे लड़ने लगा।"

मैंने कहा, "अच्छा, हटाइए, भी, बहुत हो चुका अब तो!" पर ठाकुर साहब जैसे नशे में थे, कहने लगे, "नहीं, इसे आज पुलिस को दे कर ही मानूँगा।" तब तक दूसरे रिक्शे की भी घंटी सुनाई पड़ी। बसंत और रोमी आ पहुँचे। वहाँ लोग आ गये थे शोर-गुल हो रहा था। पर जैसे रोमी के आते ही फ़िज़ा बदल गयी।

उसके सूखे बाल कुछ अज़ीब से बिखरे-बिखरे थे, और वह बार-बार अपने होंठो पर अपनी जीभ फेर रही थी। ठाकुर साहब कुछ न बोले। न जाने क्यों, सिर झुक गया उनका।

दर्ज़ी की आँखों में खून उतर आया। उसके मन में एक तूफ़ान उठा, और नथुने फड़कने लगे, "मैं इस तरह छोड़ने वाला नहीं... नहीं!" वह बुदबुदाने लगा।

संजय—जैसे कोई प्राणहीन वस्तु हो, चुपचाप, निश्चल, निश्तेज़, "चलो अच्छा ही हुआ, जो इस नरक में फँसते-फँसते बच गया। बुजुर्गों की दुआ ही कहो इसे, वर्ना सारी ज़िन्दगी इस पाप के पहाड़ को ढोना पड़ता!"

बसंत—हतबुद्धि, स्तम्भित, जैसे कोई मोटर लड़ गयी हो और वह बच कर बाहर खड़ा हो और ऐक्सिडेन्ट की बात सोच रहा हो, "आख़िर यह सब है क्या? मुझे यह सब नहीं करना चाहिए था! कितनी लज्जाजनक बात है! सड़क, पार्क...आख़िर कुछ भी तो शर्म होनी चाहिए आदमी में। छी-छी...मैंने बड़ी ग़लती की। पर यह लड़कियाँ...उफ़्...!"

ठाकुर साहब—किंकर्तव्य-विमूढ़, "सब, सब ख़त्म हो गया, यह अंत है।"

रोमी—सचेत, दुखी, किन्तु धरती के सहारे चलती-चलती, "अब क्या होगा ? क्या होगा अब ? क्या हो गया ? क्या......"

और मैं अब घर पहुँच गया हूँ। पहले तो सोचता था कि बात बनी-की-बनी रह जाए, पर मधुमक्खी का बीन्हा हुआ दर्द जैसे मेरी नसों में उतरता जा रहा था। मैं सामान्य था, बिल्कुल ज़मीन पर चलने वाला। इसलिए, बहुत साफ़-साफ़ कहे देता हूँ कि मेरी पत्नी का जी कई दिनों से ठीक नहीं है, घर में दो दिन से खाना भी नहीं है, पैसे भी हाथ में नहीं हैं। सम्पादकों को कई पत्र लिखे, पर किसी ने कृपा न की। और इसी उलझन में कुछ लिखा भी नहीं जाता, वर्ना ऐसा अच्छा मौक़ा किस लेखक को मिलता है, कि प्रकृति की सुरम्य पीठिका में असाधारण दर्द की अनुभूति से ठाकुर साहब, संजय, बसंत, मियाँ दर्ज़ी और रोमी—जैसे पात्रों को न देखा जा सके ? समाज के विभिन्न वर्गों के कैसे अनूठे चरित्र हैं—शायद आलोचक खुश हो जाएँ, और सामान्य की कुंजी पा लेने का श्रेय भी मुझे दे दें। इस बार सम्भावनाएँ भी ख़ूब मिल गयी हैं; बैक-ग्राउंड में पकड़ भी है, रोमांस भी; क्रान्ति की उम्मीद भी और ऐडवेंचर भी। और ज़्यादा कुछ नहीं, तो कम-से-कम संजय, दर्ज़ी और बसंत को एक टेबुल के चारों ओर बैठा कर, एक-एक कप चाय तो पिलायी ही जा सकती थी, और इनसे दोस्ताना ढंग से बातें भी की जा सकती थीं। पर घर में न तो चीनी है, न चाय और न इतने प्लेट-प्याले ही। इसलिए इन पात्रों को काल्पनिक मान कर ही बात यहीं ख़त्म करता हूँ, अगली कहानी फिर कभी।

● ● ● माई

● मार्कण्डेय की कहानियों का चौथा संग्रह नवम्बर, ५७ तक प्रकाशित हो रहा है।

● 'पान-फूल' तथा 'महुए का पेड़' के दूसरे संस्करण, साधारण मूल्य-वृद्धि के साथ प्रकाशित हो गये हैं। पाठकों एवं पुस्तक विक्रेताओं की यह शिकायत कि ये पुस्तकें उन्हें बाज़ार में सुविधा पूर्वक नहीं मिलती; अब मिट जानी चाहिए।

● 'हंसा जाई अकेला' का पहला संस्करण सात-आठ महीनों ही में समाप्त हो गया है। पाठक हमारी बधाई स्वीकार करें। नया संस्करण यंत्रस्थ है, शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

● हमारे दूसरे वर्ष की प्रथम पुस्तक होगी, हिन्दी के प्रतिभा सम्पन्न कवि केदार नाथ सिंह की कविताओं का संकलन—

शंकापुत्र ● ● ●